"षोडश संस्कार"

(एक वैज्ञानिक विवेचना)

लेखकद्वय

डॉ. बोध कुमार झा

पं. गेय कुमार झा

श्रीमतां त्रिपाठिमहाभागानां करकमले-
षु समर्प्यते सादरम् –

बोध कुमार झा:
१८।२।९८

॥ श्रीः ॥

"षोडश संस्कार"

(एक वैज्ञानिक विवेचना)

(छात्र, शिक्षक, गवेषक तथा भारतीय आम नागरिक के लिए समान रूप से उपयोगी पुस्तक)

लेखकद्वय

डॉ. बोध कुमार झा 'ब्रह्मबन्धु'
लब्धस्वर्णपदकत्रय-रजतपदकत्रय-कांस्यपदकद्वय, विद्यावारिधि, नव्य व्याकरणाचार्य, प्रवक्ता-संस्कृत दर्शन वैदिक अध्ययन विभाग, वनस्थली विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) राजस्थान

प. गेय कुमार झा 'गङ्गेश'
लब्धस्वर्णपदक, व्याकरणाचार्य, वेदाचार्य, शिक्षाशास्त्री, गवेषक-स्ना. व्या. विभाग, का. सिं.दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, कामेश्वर नगर, दरभंगा, बिहार।

ISBN : 81-86120-35-1
पुस्तक :- षोडश संस्कार
लेखक :- डॉ. बोध कुमार झा
एवं
पं. गेय कुमार झा

© सर्वाधिकार सुरक्षित

संस्करण : 1997

मूल्य : 50/- रुपये मात्र

प्रकाशक :
हंसा प्रकाशन
57 नाटाणी भवन, मिश्रराजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार, जयपुर - 302001 (राजस्थान)

टाईप सैटिंग :
स्वास्तिक कम्प्यूटर्स
लोहा मण्डी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर - 302 003

मुद्रक :
सिंहसन्स ऑफसेट
जयपुर

॥ अनुक्रमणिका ॥

(1) मङ्गलाचरण

(2) पुस्तक से सम्बद्ध प्रश्नों की एक झलक

(3) लेखकीय

(4) हिन्दू संस्कारों का एक वैज्ञानिक विवेचन 1 से 52

(क) गर्भाधान संस्कार 1

(ख) पुंसवन संस्कार 4

(ग) सीमन्तोन्नयन संस्कार 6

(घ) जातकर्म संस्कार 8

(ङ) नामकरण संस्कार 12

(च) कर्णवेध संस्कार 15

(छ) निष्क्रमण संस्कार 18

(ज) अन्नप्राशन संस्कार 21

(झ) चूडाकर्म संस्कार 23

(न) विद्यारम्भ संस्कार 26

(ट) उपनयन संस्कार 29

(ठ) वेदारम्भ संस्कार 32

(ड) समावर्त्तन संस्कार 33

(ढ़) केशान्त अथवा गोदान संस्कार 36

(त) विवाह संस्कार 40

(थ) अन्त्येष्टि संस्कार 49

(5) परिशिष्ट (संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले कुछ विशिष्ट मन्त्र-अर्थसहित) 53

(मङ्गलाचरण)

श्रम-सुमन से शक्ति-माल्य से
भाव-सनेह सुजल से।
अर्चित-वन्दित माँ बगला को
अर्पित पाणि-कमल से॥
यह छोटी-सी भेंट तुझे मैं
देता सो स्वीकार करो।
भक्त नहीं तो वत्स के नाते,
प्रीति भरा उपहार धरो॥

—लेखक

पुस्तक से सम्बद्ध प्रश्नों की एक झलक

1. गर्भाधान संस्कार के अन्तर्गत निहित रहस्य ?
2. मृत्यु-जीवन से पराजित हो जाती है, कैसे ?
3. पत्नी माता होती है ?
4. सामान्यत: माता-पिता के अनुरूप ही सन्तान क्यों होती है ?
5. यदि यह सत्य है, तो हिरण्यकशिपु के प्रह्लाद-सा धार्मिक पुत्र क्यों हुआ ?
6. गर्भाधान हेतु काल-निर्धारण का वैज्ञानिक कारण ?
7. अपनी इच्छा के अनुसार पुत्र एवं पुत्रीप्राप्ति के उपाय ?
8. गर्भिणी की नाक में वट, शुंग, कुश व दूर्वा के रस डालने के पीछे आयुर्वेद शास्त्रीय तत्त्व ?
9. पति के द्वारा 'पुंसवन' उत्तर के लिए तीन बार प्रश्न किये जाने का औचित्य ?
10. गर्भावस्था में स्वस्थ एवं शुभ आचरण का जातक पर प्रभाव ?
11. स्त्री के केशों को विभाजित करने में दर्शन ?
12. उदुम्बर को गले में बाँधने का चिकित्सा शास्त्रीय कारण ?
13. पत्नी को चावल, तिल तथा घी को दिखाये जाने का रहस्य ?
14. वैश्वानर को बारह भागों में बलि दिये जाने का रहस्य ?
15. बलि के रूप में रोटी ही क्यों दी जाती है ?
16. जातकर्म के साथ जातक का धन-धान्य एवं पशु से युक्त होने में कैसा सम्बन्ध है ?
17. परोक्ष सत्ता को स्वीकार करने की वैज्ञानिकता ?
18. दही एवं घी से होम करने के वैज्ञानिक प्रभाव ?
19. सोने के चम्मच से दही और मधु चटाने में चिकित्सा शास्त्रीय सिद्धान्त ?

20. नामकरण की व्यापकता एवं वैज्ञानिकता ?
21. नाम कैसा होना चाहिये ?
22. ग्यारहवें दिन नामकरण का विधान क्यों है ?
23. पिता के द्वारा नामकरण में ऐतिहासिक कारण ?
24. चार प्रकार के नाम क्यों ?
25. कर्णवेध का व्यावहारिक, दार्शनिक व वैज्ञानिक महत्त्व ?
26. एक भयावह रोग का कर्णवेध के द्वारा आसान इलाज ?
27. बचपन में ही कर्णवेध किये जाने का कारण ?
28. बच्चे को एक सुनिश्चित समय में घर से बाहर निकालने में चिन्तन ?
29. सूर्य दर्शन का आध्यात्मिक महत्त्व ?
30. बैदिक मंत्रों की शरीर पर प्रतिक्रिया क्यों और कैसे होती है ?
31. ब्राह्मण पूजन एवं भोजन में समाज विज्ञान ?
32. अन्नप्राशन के समय शुभ मुहूर्त्त क्यों ?
33. शिखा की वैज्ञानिकता ?
34. केश-कर्त्तन के समय माता-पिता, पुरोहित, जल एवं दर्पण की उपस्थिति के पीछे कारण ?
35. उपनयन से पहले कैंची के द्वारा बाल बनाये जाने में क्या हेतु है ?
36. विद्यारम्भ पाँचवें वर्ष में क्यों होना चाहिये ?
37. अक्षरारम्भ में विष्णु, लक्ष्मी एवं सरस्वती की पूजा में कार्य-कारणभाव ?
38. भारतीय संस्कृति में हर एक काम के समय देवी-देवताओं की आराधना का मनोवैज्ञानिक कारण ?
39. बच्चे को पढ़ाने की भारतीय वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक विधि ?
40. यज्ञोपवीत क्यों धारण किया जाय ?

41. चारों आश्रमों के पीछे महर्षियों का चिन्तन ?
42. भारत में विवाह को संस्कार क्यों माना जाता है ?
43. विवाह आवश्यक है ?
44. माता-पिता, ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश हैं ?
45. पत्नी का अर्द्धांगिनी-स्वरूप ?
46. पत्नी शब्द का तात्पर्य्य ?
47. ऋण-त्रय से मुक्ति एवं पुरुषार्थ-चतुष्टय का साधन ?
48. पुरुषार्थ-चतुष्टय का क्रम-विज्ञान ?
49. पुत्र के द्वारा मुखाग्नि क्यों ?
50. शरीर की तीन गतियाँ ?
51. अन्त्येष्टि भी एक संस्कार है ?
52. अपेक्षाएँ।

लेखकीय

यह तो बहुविदित है कि विश्व की तमाम प्राचीन एवं सुसभ्य संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का जवाब नहीं है। अन्य जगह की संस्कृतियाँ जब जन्म ही ली थीं अथवा अपने शैशव में थीं, उस समय हमारी संस्कृति फल-फूल से लद चुकी थी। हमें अपनी संस्कृति पर गर्व है। लेकिन हर किसी की श्रेष्ठता एवं अभ्यर्हणीयता के पीछे कुछ न कुछ ऐसे तत्त्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काम करते हैं; जिनके सम्बल से उसका अस्तित्व कायम रहता है। इसीलिए तो इकबाल कहते हैं—

"यूनान मिस्र रोमाँ सब मिट गये जहाँ से।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी॥"

हमें देखना है कि वे बातें क्या हैं ? जो हमारी हस्ती को मिटने ही नहीं देतीं, बल्कि विश्वंधरा पर पूर्णतः प्रतिष्ठापित की हुई हैं। जब हम पूरी तरह से गौर करते हैं तो पाते हैं कि हमारे पूर्वजों ने अर्थ काम-स्वरूप ईंटों को सामान्य-विशेषरूप धर्म की सुर्खी से जोड़कर मोक्षरूपी सुधा (चूना) से लेप करके सुन्दर और सुदृढ़ प्रासाद का निर्माण किया है। हमारी संस्कृति शुद्ध रूप से वैदिक संस्कृति है। इसके निर्माता वे महामनीषी थे, जिन्होंने योग साधना के बल पर सत्य, शिव और सुन्दर का साक्षात्कार किया था। उनकी वाणी अमोघ थी। उनसे उत्पन्न चिन्तन कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त से सिद्ध थे। जिनको हम ऋषि, महर्षि, ब्रह्मर्षि आदि रूप में जानते हैं। आज की भाषा में अगर कहा जाय तो वे वैज्ञानिक थे। उन लोगों ने प्राणिमात्र के कल्याण भाव से प्रतिक्रिया रहित अनेकों आविष्कार किये। ये आविष्कार निर्माण के लिए थे। आज की तरह विध्वंस के लिए नहीं। इन्होंने स्वच्छन्द आकाश में सैर करायी। समुद्र पर दौड़ना सिखाया, लेकिन धरती पर चलना न भुलवाया। उन्हीं अनन्त आविष्कारों में से एक आविष्कार हमें संस्कार के रूप में उपलब्ध है। जिसकी

झाँकी कलि कालुष्य कलुषित काल में भी कश्मीर से कन्याकुमारी एवं सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक देखी जा सकती है। ये संस्कार भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं। अंग और अंगी में समवाय सम्बन्ध होता है। नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। जहाँ नित्य सम्बन्ध होता है, वहाँ हम लाख चाहें, सम्बन्धियों को पृथक् नहीं कर सकते। व्याकरण की दृष्टि से भी दोनों ही शब्दों में सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु का व्यवहार है। अत: दृढ़ता से कहा जा सकता है संस्कार और संस्कृति एक-दूसरे के पूरक हैं।

आज पाश्चात्त्य संस्कृति द्वारा हमारी अस्मिता पर प्रहार जारी है। वैज्ञानिक युग के चाकचिक्य से चकाचौंध व्यक्ति का मानस विपरीत बुद्धि से ग्रस्त है। सब कुछ अन्धविश्वास एवं कपोल कल्पना की परिणति जानते हुए उनके तिरस्कार करने को उद्यत है। मनुवाद या ब्राह्मणपाद का मिथ्या प्रचार किया जा रहा है। अंगूर नहीं प्राप्त होने पर उसके खट्टेपन को कहने की गलत मानसिकता विकसित हो गई है। ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवियों एवं भविष्य के अनुमाताओं का दायित्व निश्चय ही बढ़ गया है। आवश्यकता है अपनी विरासत में मिले ज्ञान-विज्ञान एवं प्रज्ञान की नये ढँग से व्याख्या की। जरूरत है उस ज्ञानांजन शलाका की, जिसके द्वारा अज्ञान तिमिरान्धचक्षु के उन्मीलन हों। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' का समय नहीं रहा। केवल सिद्धान्त प्रतिपादन से व्यक्ति के रिसते घाव भरे नहीं जा सकते। हमें उनके प्रायोगिक स्वरूप को दिखाना होगा। उन्हें अंगुल्या निर्देश करके बताना होगा। समय की इस माँग को देखते हुए "हिन्दू संस्कारों का एक वैज्ञानिक विवेचन" करने में हमारी प्रवृत्ति हुई। इस लघुकाय पुस्तक के अन्तर्गत प्रतीक रूप में हमने उन तमाम स्थलों को लेने की कोशिश की है, जो अपने समान वर्ग के प्रतिनिधित्व करते हैं। इस पुस्तक में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक के मुख्य बिन्दुओं की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। जिसमें आप

अनुभव करेंगे कि संस्कार सम्बन्धी अन्य पुस्तकों की धारा से तनिक भी मेल नहीं है. नवीनता एवं मौलिकता का समावेदन जगह-जगह हुआ है। इस पुस्तक को लिखने की दृष्टि का खुलासा पहले किया जा चुका है। आप से आग्रह है कि इसे उसी दृष्टि से अवलोकन करना चाहेंगें।

प्रारम्भ में पुस्तक से सम्बद्ध प्रश्नों की एक झलक दी गई है। उसे देखकर वर्ण्य विषय का अनुमान सहज सम्भव है। उनके उत्तर समाज विज्ञान, आयुर्विज्ञान, ध्वनिविज्ञान, मनोविज्ञान एवं इन्हीं कतिपय विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य में देने के प्रयास किये गये हैं। इस कार्य्य में कहाँ तक सफलता मिली है, उसके लिए तो सहृदय सुधी वर्ग ही प्रमाण स्वरूप हैं।

पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत संस्कार से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट मन्त्रों को अर्थसहित उद्धृत किया गया है। वे मन्त्र ऐसे हैं, जिनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। उनके शब्दार्थ मात्र से श्रद्धात्मक रस से सराबोर हुए बिना नहीं रहा जा सकता।

अपनी उक्ति को विराम देने से पूर्व हम उन तमाम गुरुजन, मित्रगण तथा ग्रन्थ ग्रन्थकार का आभार प्रकट करना चाहेंगे, जिनके प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सहयोग से संस्कारों का एक साहसिक वैज्ञानिक विवेचन करने का साहस मिला। इस महार्घमय काल में भी बिना किसी की परवाह किये भारतीय संस्कृति की रसधारा से ओतप्रोत प्रकाशक महोदय का भी हम साभार धन्यवाद ज्ञापन करते हैं; जिनके सत्प्रयास से यह पुस्तकाकार में परिणत होकर आपके सामने उपस्थित है।

—लेखक

डॉ. बोध कुमार झा 'ब्रह्मबन्धु'

एवम्

डॉ. गेय कुमार झा 'गङ्गेश'

"हिन्दू संस्कारों का एक वैज्ञानिक विवेचन"

भारतीय संस्कृति की अतुलनीय विशेषताओं में संस्कारों का किया जाना एक अत्यन्त ही उल्लेखनीय विशेषता है। प्रत्येक संस्कार अपने में बहुत ही निगूढ़, वैज्ञानिकतापूर्ण एवं नितान्त प्रभावोत्पादक है।

(1) गर्भाधान संस्कार

इस संस्कार में किसी व्यक्ति का आगमन किस तरह होना चाहिये ? उसका स्वास्थ्य, स्वभाव व बौद्धिक क्षमता किस प्रकार स्वस्थ एवं सुदृढ़ हो ? इसके सम्बन्ध में हमारे वैदिक ऋषियों-महर्षियों के द्वारा जो चिन्तन किया गया, उसी का रूप हमें देखने को मिलता है।

सृष्टि के मूल में ऋत एवं सत्य तथा सोम एवं अग्नि नाम के तत्त्वों का सहयोग[1] है। वे ही द्विविध तत्त्व मानवजन्म के मूल[2] में भी क्रियाशील रहते हैं। इसका नाम वीर्य्य और रज है। वीर्य्य और रज जितने ही शुद्ध होंगे, सन्तति भी उतनी ही शुद्ध होगी। संस्कारी माता-पिता के विशुद्ध वीर्य एवं रज से संस्कृत सन्तान का जन्म होता है—इस तथ्य को हमारे पूर्वज भलीभाँति अनुभव कर चुके थे। अत: संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से ही होता है। पुरुष-स्त्री के रजोवीर्य के मिथुन भाव से गर्भाधान होता है। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज

---

1. योषा वा आपः, वृषाग्निः (मा.शा.प्र.ब्रा.-2-1-4)
2. अग्नीषोमात्मकं जगत् (बृहज्जावालोपनिषद् 2-4)

में अनादि रूप जीव पूर्व से ही विद्यमान रहता है। किन्तु अनेकानेक प्राकृतिक एवं आगन्तुक दोषों के कारण उसकी शुद्धावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है। इन विकारों के परिमार्जन के लिए गर्भाधान संस्कार का विधान किया गया है।

आम तौर पर यही मान्यता है कि मृत्यु जीवन को निगल जाती है। जीव का अस्तित्व तभी तक रहता, जब तक कि मृत्यु उसके पास नहीं आ जाती। किन्तु गर्भाधान एक ऐसी परम्परा है, जो मृत्यु से जीवन पराज़ित होकर भी विजयी बना रहता है। श्रुति क़हती है—

"अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥"

पैदा होने वाला शिशु कोई सर्वथा नवीन नहीं रहता है, अपितु हमारे पूर्वज ही वीर्य और रज के माध्यम से गर्भ में प्रवेश कर तथाकथित नवीन स्वरूप को धारण करते हैं। इसलिए उपनिषदों में पत्नी को माता शब्द से भी कहा गया है। क्योंकि आत्मा से पुत्र की पैदाइश मानी गई है। वही आत्मा सूक्ष्म रूप में पत्नी की गर्भज होती है। यदि गर्भज की माँ उसकी पत्नी होती है, तो वास्तविक रूप में पिता में गर्भजत्व होने के कारण पत्नी में मातृत्व का व्यपदेश होना स्वाभाविक है।

शास्त्रकारों ने रज को क्षेत्र और शुक्र को बीज माना है। सन्तानोत्पत्ति में दोनों का ही महत्त्व अपरिहार्य्य है। बीज चाहे जितना अच्छा हो, अनुर्वर क्षेत्र में पड़कर फलप्रद नहीं होता। इसी तरह क्षेत्र अच्छा हो, पर बीज निकम्मा तो भी सुन्दर फल नहीं मिल पाता। गर्भ में स्थाप्यमान शिशु स्त्री एवं पुरुष के मानस पटल पर अंकित स्वरूप के अनुरूप ही रूप को धारण करता है। अतः गर्भाधान काल में किसी हीन पुरुष को देखना उभय पक्ष के द्वारा वर्जित माना गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवन के जो अणु वीर्य में निहित होते हैं, उनमें मानसिक अणु भी विद्यमान् रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो

हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद कभी धार्मिक प्रवृत्ति का नहीं बनता। सामान्यतः माता या पिता का रूप एवं स्वभाव सन्तान में रहा करता है। एक राक्षस का पुत्र धार्मिक विरले ही होता है। यह तभी सम्भव है जबकि गर्भाधान के समय किसी सदाचारवान् व्यक्ति की छवि उसके मानस में निहित हो। शरीर के द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य में वैज्ञानिक या दार्शनिक दृष्टि से मन ही कारण हुआ करता है। अतः गर्भाधान में मन के महत्त्व को अस्वीकार करना अनुभव के विरुद्ध होगा।

हमारे मान्य ग्रन्थों में गर्भाधान के लिए काल का भी बहुत विचार किया है। ऋतुकाल में दाराभिगमन करना चाहिये—ऐसा शास्त्रकारों का अनुशासन है। ऋतुकाल सोलह[1] रात्रियों का हुआ करता है। प्रारम्भ के चार दिन तक रतिकर्म वर्जित है। इसी प्रकार पौर्णमासी, अमावस्या तथा अष्टमी तिथियाँ भी वर्जित हैं। रजोदर्शन के पश्चात् 11वीं और 13वीं रात्रि भी निन्दित मानी गई है। तथा दिन में प्राणवायु के अधिक तेज चलने के कारण गर्भाधान दिन में वर्जित[2] है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर ये वर्ज्य तिथि एवं दिन तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। आरम्भ के जो चार दिन प्रतिषिद्ध माने गये वे तो सर्वजनसंवेद्य हैं। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं आनी चाहिये। पूर्णिमा और अमावस में क्रमशः सोमतत्त्व का आधिक्य और अल्पता वातावरण में निहित होती है, अतः ये दोनों तिथियाँ जातक सम्बन्धी स्वास्थ्य-[3] परक दृष्टि के कारण वर्जित मानी गई हैं। जहाँ तक 11वीं

---

1. म. स्मृति- 3.2, याज्ञ. स्मृ. - 1, 79
2. आर्थवणिक श्रुति।
3. यह भौतिक भूगोल का सामान्य ज्ञान है कि चन्द्रमा के आकर्षण और जल तत्त्वों की वृद्धि के कारण पृथ्वी की भौतिक दशा पर्व तिथियों पर विकृत हो जाती है और प्राणिजगत् का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता
—R.B. Paday (हिन्दू संस्कार)

और 13वीं रात्रि का प्रश्न है, वह भी शारीरिक विज्ञान सम्मत प्रतीक होता है। इन दोनों ही कालांशों में स्त्री का गर्भाशय जीवाणु को सर्वथा स्वीकार करने हेतु तैयार नहीं होता। फलत: विरुद्ध आचरण करने पर जातक के विकलांग होने की ज्यादा सम्भावना रहती है। व्यास स्मृति के अनुसार = "एकादश्यामधर्म्या स्त्री" और "त्रयोदश्यां सुता च स्यात्" कहकर ये रात्रियाँ वर्जित की गई हैं।

मनुस्मृति में पुत्र के लिये और पुत्री के लिये युग्म और अयुग्म रात्रि की व्यवस्था दी गई है। तदनुसार—

"युग्मासु पुत्रा जायन्ते, स्त्रियो युग्मासु रात्रिषु।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियाम्॥" म. स्मृ. 3/48

इस तरह स्मृतियों एवं ज्योतिष के संस्कार रत्नमाला इत्यादि ग्रन्थों में गर्भाधान के मुहूर्त्तादि पर काफी सूक्ष्म विवेचन प्रतिपादित है। जो कि मनगढ़न्त नहीं अपितु आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से सम्मत है।

पति-पत्नी दोनों इस संस्कार के द्वारा नित्यकर्मानुष्ठान, देवर्षि-पितृ-तर्पण, अतिथि सत्कार ऐसे अनेकों काम करते हैं, जिसकी प्रतिक्रिया तुरन्त देखी जा सकती है। तर्पण कर्म के द्वारा कृतज्ञता एवं सहानुभूति की भावना प्रबल होती है। नित्यकर्मानुष्ठान के द्वारा अनुष्ठाता के दिन एवं रात में किये जाने वाले कर्म व्यवस्थित होते हैं, जिससे व्यक्ति व्यवस्थित चित्तवाला बनता है, तथा अतिथि सत्कार में दूसरों की भलाई, किसी महिमा मण्डित व्यक्ति को सम्मान प्रदान कर तृप्त होना तथा सञ्चित धन को बाँटकर खाने का भाव दृष्टि-गोचर होता है।

(2) पुंसवन संस्कार

पुंसवन संस्कार के पीछे यद्यपि पुत्र रत्न की जिससे प्राप्ति हो, इसके लिए स्त्री-पुरुष के द्वारा एक विशेष प्रकार का आचरण एवं कर्म किया जाना होता है, ऐसी मान्यता है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से

विचार करने के बाद पुत्र शब्द का अर्थ, यहाँ सामान्यतः पुरुष विशेष नहीं होकर के प्रत्युत संसार को रास्ता दिखाने वाला, कर्त्तव्य एवं निष्ठा के पथ पर चलने वाला, समाज से बहुत कुछ कम लेकर बहुत अधिक देने वाला जो भी जीव है, उसकी कामना की जाती है। अगर केवल पुत्र की ही प्राप्ति के लिए पुंसवन संस्कार इष्ट हो तो किसी लंगड़ा, गूँगा, बहरा जातक से भी माता-पिता सन्तुष्ट होते दिखते, किन्तु ऐसा नहीं है।

शरीर शास्त्र का नियम है कि गर्भस्थ जीवन में दो-तीन माह तक स्त्री-पुरुष के रजोवीर्य्य के भ्रूणों में प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है। उनमें जो प्रबल होता है, गर्भस्थ जीव में उसी भाव का उदय होता है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि 'यदि जीव में पुरुष भ्रूण की प्रबलता हो, तो पुरुष भाव और स्त्री भ्रूण की प्रबलता हो तो स्त्रीभाव का आधान होता है। इसलिए भ्रूण के पोषण और बल के लिए मन्त्रोच्चारण के साथ वट, शुंग, कुश तथा दूर्वा आदि का रस गर्भिणी के दाहिने नासा-रन्ध्रक द्वारा प्रवेश कराया जाता है। नासिका के छिद्रों का शरीर के अन्दर की नसों के साथ सम्बन्ध है, जिनमें रक्त प्रवाहित होता है। दाहिने छिद्र से निकलती हुई वायु में उष्णता तथा वामरन्ध्र वाली वायु में शैत्य की प्रधानता मानी गयी है। ऊष्मा पुरुषत्व प्रधान है। अतः दवा का जो यहाँ विधान है वह विज्ञान सम्मत है। गर्भस्थ बच्चे के जीवन में ऊष्मा-जन्य उत्साह भरा रहे, ये भाव इससे ध्वनित हो रहा है।

इस संस्कार में जो विनियोग किये जाते हैं, उनमें से एक पति के द्वारा पत्नी के पीने के सम्बन्ध में पूछा[1] जाना भी है। पति तीन बार तुम क्या पी रही हो? ऐसा पूछता है और फिर स्त्री "पुंसवन"

---

1. किं पिबसि किं पिबसीति पृष्ट्वा पुंसवनं पुंसवनमिति त्रिप्रतिजानीयात् (आ.गृ सू. 3-1-13)

पद को कहकर उत्तर देती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि एक बार प्रश्न कर लेने के बाद और उसका उत्तर मिल जाने के बाद फिर दूसरे व तीसरे प्रश्न का क्या औचित्य है? विद्वानों की मान्यता है कि गर्भस्थ शिशु माता के द्वारा गृहीत जल, भोजन एवं वायु के द्वारा ही संसेवित होता है।[1] इस तरह की स्थिति में यदि कोई स्त्री जिह्वा-लौल्य के कारण किसी कुप्रभावकारी वस्तु को ग्रहण कर लेती है तो गर्भस्थ शिशु के लिए यह अपकारक ही नहीं, जान लेवा भी साबित हो सकती है। अत: तीन बार प्रश्न और तीन बार उत्तर के द्वारा निश्चित रूप में अपनी पत्नी के द्वारा पति आश्वस्त होता है तथा अलाभकारी क्रियाकलापों के प्रति उसे सर्तक भी करता है। जिससे शिशु की रक्षा एवं विकास स्वाभाविक रूप से हो पाता है।

मनोविज्ञान के अनुसार—गर्भकालिक अवस्था में गर्भिणी की मानसिक दशा बच्चे के मन-मस्तिष्क पर बहुत ही प्रभाव डालती है, जिसका ज्वलन्त उदाहरण महाभारत के अभिमन्यु की गर्भावस्था में ही चक्र व्यूह भेदन का ज्ञान हो जाना तथा अर्जुन के द्वारा सुभद्रा की सुषुप्तावस्था हो जाने से समाप्तकालिक युद्ध विद्या का ज्ञान न होना, के रूप में देखा जा सकता है। इसलिए पुराणों (मत्स्य पु. आदि) में गर्भिणी स्त्री के आचरण के बारे में जो सदा प्रसन्न रहना, शुभ कर्म करना, भलाई की बात सोचना इत्यादि बातें कही गयी हैं। वे सारी की सारी अवधारणायें मनोविज्ञान की कसौटी पर खड़ी उतरती हैं।

3. सीमन्तोन्यन संस्कार

गर्भाधान के चौथे, छठे या आठवें माह यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार का उद्देश्य गर्भपात रोकना है। शरीर शास्त्र की दृष्टि से ये तीनों मास ही गर्भ-भ्रंश के लिए अधिक आशंकित होते हैं।

---

1. समानयोगक्षेमा हि माता तदा गर्भेण केषुचिदर्थेषु। (शरीर स्थान - 4,16)

इस संस्कार में स्त्रियों के केशों को विभाजित किया जाता है जो कार्य पति के द्वारा सम्पादित होता है । भूर्भवः स्वः जो तीनों पद, तीनों लोक के प्रतिनिधि[1] स्वरूप हैं, जिनका उच्चारण कर त्रिलोक की व्यापक भावनाओं से अभिभूत होकर वह पुरुष अपनी पत्नी के बालों को ऊपर की ओर संवारता है, मानों शिशु एवं शिशु की माता को माथे के केश की संख्या के अनुरूप सैकड़ों वर्ष तक सम्पूर्ण लोक के हो जाने के लिए मंगलकामना करता है । अर्थात् संकुचितता का संक्षिप्त काम व्यापकता के उदर में समा जाता है । व्यक्ति, समष्टि का रूप धारण कर लेता है । सीमन्तोन्नयन संस्कार के अन्तर्गत उदुम्बर नामक वृक्ष की एक शाखा को गर्भिणी के गले में बांधा जाता है जो किसी आयुर्वेदशास्त्रीय तात्कालिक चिकित्सा पद्धति की ओर इंगित करता है । ज्ञातव्य है, कि शरीर में गले का भाग अत्यन्त ही मुलायम एवं संवेदनशील हुआ करता है । शरीर में पहुँचने वाले प्रत्येक पदार्थ को उसी रास्ते से गुजर कर जाना होता है तथा सम्भव है, कि उदुम्बर में निहित[2] गुणों के संस्पर्श के द्वारा कुछ इस तरह की रसायन की उत्पत्ति होती हो, जो कि गर्भिणी माता एवं शिशु के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक सिद्ध होते हों । जो एक गवेषण का विषय है ।

इस संस्कार में व्यवहार की जितनी कड़ियाँ शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित हैं उनमें से आखिरी कड़ी पति के द्वारा पत्नी को चावल की राशि, तिल तथा घी की ओर दिखाना है । यहाँ पर चावल से सन्तुष्टि एवं परितृप्ति, तिल से नैरूज्य व स्नेह तथा घी से शक्ति एवं सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करना प्रतीत होता है । मनुष्य स्वभाव से ही एक बहुत संवेदनशील प्राणी है । किसी की असह्य

---

1. भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत् भुव इत्यन्तरिक्षम् स्वदिति दिवम् (मा.श.प.ब्रा. 1-6-11)
2. तदुयैषु वनस्पतिषूर्ग्यो रस आसीद् उदुम्बरे तमदधुः (श.प.ब्रा. - 6/4/3)

वेदना को देखकर स्वयं का व्यथित हो जाना, किसी की खुशियों में हाथ बँटाकर स्वयं खुश हो जाना तथा किसी को रोते देखकर रूलाई आना इसका ज्वलन्त प्रमाण है। मनुष्य जो भी देखता है, वही सोचता है तथा वही सीखने की चेष्टा करता है। गर्भिणी महिला अपने शारीरिक दुर्वहनशील भार को ढोती हुई बिल्कुल श्रान्त एवं क्लान्त दशा में बहुत ही नियम, निष्ठा एवं सावधानी के त्रिकोण में अपना जीवन व्यतीत करती हुयी केवल आशा एवं विश्वास के बल पर गर्भावस्था की असह्य वेदनाओं को सहन करती रहती है। उस परिस्थिति में पति के द्वारा उपर्युक्त असाधारण पदार्थ का स्मरण कराये जाने से जो स्वाभाविक उसके अन्दर भाव उभरते हैं, वो निश्चय ही वैज्ञानिकताओं एवं दार्शनिक भावनाओं से ओत-प्रोत-सा लगता है। गर्भ के दिनों में आयुर्वेद के अनुसार पाँचवें महीने में मन का निर्माण होने लगता है। शिशु की मानसिक शक्ति के उन्नयन के लिए भी यह संस्कार अपेक्षित है। गर्भिणी स्त्री की इच्छाओं की पूर्त्ति करना भी इस संस्कार के साथ संयुक्त है। गर्भिणी के प्रिय अभीष्ट की पूर्त्ति से जहाँ उसके मन पर सुखद प्रभाव पड़ता है, वहाँ शिशु की मानसिक निर्मिति पर भी अपेक्षित प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी[1] है।

4. जातकर्म संस्कार

प्रारम्भ में तीन संस्कार जन्मावस्था के पूर्व के संस्कार हैं, किन्तु जातकर्म संस्कार जन्म लेने के बाद सम्पादित किया जाता है। जातकर्म नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि जिसका जनन हुआ हो, उससे सम्बद्ध कर्मों का किया जाना। इस कार्य में जातक के पिता एवं माता के द्वारा श्रुति एवं स्मृति सम्मत विधियों का निष्पादन किया जाता है। जिनमें उल्लेखनीय है कि पुत्रोत्पादन के बाद बारह विभिन्न पात्रों में

1. जननात्पूर्वं मार्तुगर्भावस्थस्य तु प्राणो मानुः प्राणादभिन्न :
(सा.भा. श.प.ब्रा. - 2/1/10)

पाचित रोटी को बलि के रूप में बाँटकर फिर वैश्वानर को समर्पित किया जाता है। जिसका फल शास्त्रों में बताया गया है कि जातकर्म संस्कार करने से जातक पवित्र, गौरवपूर्ण, धन-धान्य से पूर्ण एवं पशु से युक्त होता है। इन बातों पर ध्यान देने से कुछ जैज्ञासिक तत्त्व सामने आते हैं, कि वह बलि वैश्वानर को बारह पात्रों में ही क्यों अर्पित की जाती है? उस बलि में और तरह के पकवान भी दिये जा सकते थे, किन्तु रोटी को ही बलि के स्वरूप में क्यों स्वीकार किया जाता है? और फिर इस क्रिया के द्वारा शिशु की पवित्रता से, गौरवपूर्णता से, धन-धान्य की प्रचुरता से एवं पशु की युक्तता से कैसा नाता है? तात्पर्य यह है कि बारहों बर्तन बारहों मास के द्योतक हैं, जिनमें दी जाने वाली बलि के रूप में पकी रोटियाँ खाद्यान्न का प्रतिनिधित्व करती हैं। यहाँ यह धातव्य है कि आदमी जब पैदा होता है तो सर्वप्रथम उसे हवा की आवश्यकता होती है, फिर पानी की आवश्यकता होती है, और फिर रोटी की आवयश्कता प्रतीत होती है। इस परिप्रेक्ष्य में पुराण का एक पद स्मृति पथ में आता है कि—**कलावन्तगता: प्राणा: (सत्यनारायणकथा)** इसका आशय है कि कलिकाल में जीवन धारण तब तक ही सम्भव है जब तक की खाने को दाने मिलते रहें। माना कि दाने से ज्यादा जल का महत्त्व एवं जल से भी ज्यादा महत्त्व हवा का होता है, परन्तु हवा व जल के लिए आदमी को कोई खास किश्म का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ये दोनों सृष्टि के रचयिता के द्वारा पर्याप्त मात्रा में प्रदत्त हुए मिल जाते हैं। परन्तु रोटी के लिए व्यक्ति को जीवन भर जूझना होता है। अपनी भुजा की ताकत से उसका उपार्जन करना होता है। तभी व्यक्ति की क्षुधापूर्ति, प्रकारान्तर से जीवन धारण सम्भव हो पाता है। अन्य तरह के पकवान भी बलि के रूप में दिये जा सकते थे, किन्तु उनको छोड़कर रोटी को ही स्वीकार किया जाना किसी वर्ग-विशेष

को छोड़कर सर्वसाधारण जनता की धरती पर उतरकर ऐसा विचार करने की भावना से मण्डित होना परिलक्षित होता है। रोटी ही एक ऐसी वस्तु है जिसका सेवन राजा से रंक तक के द्वारा किया जाता है। अतः यह माना जा सकता है कि रोटी को बलि के रूप में दिया जाना अपने आप में एक बहुत ही उदात्त भावना तथा संयम की धारणा से अनुप्राणित है। वैश्वानर को वैदिक साहित्यों में धनधान्य की देवता, गौरव की देवता तथा पशु की देवता के रूप में स्वीकारा जाता है। अतः उनको बलि के रूप में बारह पात्रों में रोटी को देकर प्रसन्न करके उनकी कृपा से बारहों महीने बच्चे के लिए अन्नादि की प्राप्ति हेतु जो प्रयास किया जाता है वह एक कोमल एवं सहृदयतापूर्ण भावना तथा संतोष से भरा कदम है। आदमी और पशु में सम्बन्ध युगों-युगों से बिल्कुल अन्योन्याश्रित है, जिसका प्रमाण हमारे दैनिक जीवन में पग-पग पर पशु की आवश्यकता, पूजा एवं सेवा को अंगीकृत कर लेना है। अतः पशु से भी युक्त होना व्यक्ति के लिए जीवन के योग क्षेम वास्ते बहुत ही अनिवार्य हैं। साथ-साथ पशु से युक्त होना धनिकत्व[1] का भी परिचायक है। इसलिए पशु-युक्तता की कामना करना अत्यन्त ही तर्क संगत प्रतीत होता है। इन सब कामनाओं की पूर्त्ति केवल व्यक्ति यदि पुरुषार्थ से करना चाहे तो आधुनिक वैज्ञानिक जगत् में भी यह सर्वथा सम्भव नहीं है, क्योंकि हम नित्य प्रति देखते हैं कि कृषक अपने खून पसीने को एककर खेत में बीज लगाते हैं, उनकी सेवा करते हैं। फिर बालियाँ आती हैं पौधे लहलहाते हैं, परन्तु काटने के समय अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जलाप्लावन, भूकम्प इत्यादि सशक्त बाधकों के द्वारा वो नष्ट हो जाते हैं, मानों पौधे नष्ट नहीं हुए अपितु कृषक का अरमान नष्ट हो गया, उस की आशा-अभिलाषा चूर-चूर हो गयी। अतः किसी भी श्रेयस् कार्य हेतु पुरुषार्थ के साथ

1. पशवो वै रयिष्ठं पशूनामवरुध्यै - श.प.ब्रा. 4/11/32

परोक्ष सत्ता को भी अंगीकार करना नितान्त वैज्ञानिक है और ऐसा कर लेने से बुजदिली के स्थान पर उत्साह एवं उमंग का भाव जनमानस को आप्लावित करता है। जातकर्म संस्कार के द्वारा वैश्वानर को बलि समर्पित किये जाने के पीछे पुत्र के माता-पिता की भावना में यही तत्त्व पूर्णतः निहित होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में जातकर्म संस्कार के लिए निम्नलिखित क्रियाएँ प्रस्तावित की गयी हैं—

(क) दही एवं घी का मंत्रों के साथ होम (दही एवं घी को मिलाकर होम करने से हव्य कुण्ड के गर्भ से जो धुँआ उठता है। वह घर के आस-पास के पर्यावरण[1] के लिए अत्यन्त ही लाभदायक है।)

(ख) बालक के दाहिने कान में वाक् शब्द को तीन बार कहना—(वाक् वाणी का पर्याय है, जिसे कर्ण पथ में तीन बार तत्काल पहुँचाने के पीछे वाणी से अत्यन्त ही शिशु की युक्तता की कल्पना है।) ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक्[2] शब्द सरस्वती के लिये प्रचुर प्रयुक्त हुआ है। अतः बालक को सारस्वत बनाने के लिए यह एक प्रयास है।

(ग) सोने के चम्मच से बालक को दही, मधु चटाना (इस क्रिया के द्वारा दही एवं मधु में निहित प्रभावकारी संस्कार के द्वारा बच्चे के शरीर एवं स्वभाव को सुसंस्कृत किया जाता है।) मधु, घृत एवं सुवर्ण इन तीनों का योग 'ट्रिप्लान' इन्जेक्शन का प्रतिनिधित्व करता है जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के निकट है।

---

1. देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा उभयीरोषधीः याश्चव मनुष्या उपजीवन्ति, याश्चव पशवः कृत्ययेव त्वद्, विषेणेव त्वत् प्रलिलिपुः.........ते होचुः हन्तेदमासामपजिघांसाम इति। केनेति? यज्ञेनै(होमेन) वेति —(श.प.ब्रा. 2/3/2-3)
2. वाग्वै सरस्वती (श.प.ब्रा. 2/5/6)

(घ) बच्चे को गुप्त नाम देना। (गुप्त नाम देने के प्रयास के द्वारा बच्चे को सुरक्षा व्यवस्था-हेतु एक अभिनव कदम उठाना है।)

(ङ) माता को मन्त्रों द्वारा सम्बोधित करना। (इस विधि से जातक के प्रति माता के पुनीत कर्त्तव्यों को निर्देशित किया जाता है।

5. नामकरण संस्कार

नामकरण संस्कार एक ऐसा संस्कार है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की जीवन्तावस्था से ही नहीं, अपितु मरणोत्तरकालिक अवस्था से भी है।[1] एक बार जो नामकरण कर लिया गया वही नाम उस व्यक्ति का अटूट हिस्सा बन जाता है, जिसे पुरुषार्थ के बल पर भी सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक दुनिया में नाम का महत्त्व हमें पग-पग पर देखने को मिलता है, चाहे वह कोई प्राणी हो, या कोई पदार्थ; नाम के बिना उसका अस्तित्व बोधगम्य नहीं हो पाता।

नामकरण के इसी इतिहास में व्यक्तियों के लिए एक अलग अध्याय निर्मित है, जिसे नामकरण संस्कार के रूप में हम जानते हैं। श्रुतियों में कहा गया है—

"द्वादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यात्"

इसका अर्थ है कि बारहवें दिन पिता के द्वारा पुत्र का नामकरण किया जाना चाहिए। इसकी वैज्ञानिकता पर हम बाद में विचार करेंगे, लेकिन अभी प्रसंगतया नाम किस तरह का रखा जाये, से सम्बन्धित बातों पर दृष्टि प्रक्षेप करना आवश्यक है। आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित नियमानुसार उक्त संस्कार में शिशु के चार नाम रखे जाते हैं—

(क) नाक्षत्र नाम (ख) गुप्त नाम (ग) सर्वसाधारण नाम (घ) यज्ञप्रयुक्त नाम।

---

1. याज्ञवल्क्येति होवाच-यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति।
नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति।
—बृ.उ. 3/2/12

संस्कार प्रकाश में चार प्रकार के नामों का उल्लेख मिलता है, यथा

(क) देवता नाम,

(ख) मास नाम,

(ग) व्यावहारिक नाम और

(घ) नक्षत्र नाम।

महाभाष्यकार पतजंलि ने पस्पशाह्निक में कहा है—

"दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विद्ध्याद् घोषवदाद्यन्तर-न्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा[1] नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्" इति।

अभिप्राय यह है कि जातक का नाम दो अक्षरों वाला या चार अक्षरों वाला होना चाहिए, जो कि कृदन्त शब्द हो, तद्धितान्त नहीं। साथ-साथ वह शब्द किसी दुश्मन से सम्बद्ध नाम वाला नहीं हो और प्रारम्भ के तीन पीढ़ियों के नाम का स्मारक हो। तभी वह नाम सुप्रतिष्ठित होता है। भगवान् मनु के द्वारा भी नाम के सम्बन्ध में कुछ इसी तरह की बातों का उल्लेख किया गया है यथा—

(क) सभी वर्णों के व्यक्तियों का नाम शुभसूचक, शक्तिरोधक तथा शान्तिदायक होना चाहिए।

(ख) नाम के साथ एक उपपद भी होना चाहिए जिससे प्रसन्नता रक्षा तथा पुष्टि का संकेत मिल रहा हो।

उपर्युक्त बातों पर गम्भीरतया ध्यान देने से कुछ रहस्य सामने आते हैं। यथा ग्यारहवें और बारहवें दिन ही पुत्र का नाम रखने के लिए क्यों कहा गया है ? इसका कारण यह है कि नवजात शिशु के प्रारम्भिक दस दिन बहुत ही नाजुक एवं आशंकाओं से भरे हुए दिन होते हैं। इसी अन्तराल में यदि शिशु का नामकरण कर लिया

---

1. द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः (आ.गृ.सू. - 7/1/15)

जाये और आपाततः उसकी मृत्यु हो जाये, तो अत्यन्त कोमल एवं संवेदनशील जनमानस को उस शब्द के प्रति बहुत ही घृणा आ जायेगी, तथा रोने के लिए वह शब्द जीवन के किसी क्षण में स्मृत होने पर कारण तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। पिता के द्वारा ही नामकरण किया जाये, इस बाध्यता से यह स्पष्ट होता है, कि तत्कालीन समय में स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अनपढ़ हुआ करती थीं, जिनको कि शब्दों का समुचित ज्ञान नहीं होता था। इसलिए स्त्रियाँ नामकरण के अधिकार से वंचित कर दी गयीं—ऐसा साक्ष्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम उक्त पंक्ति के द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। चार प्रकार के नाम किसी जातक के रखे जायँ, ऐसी अवधारणा हमें व्यक्ति की चार अनिवार्य अवस्थाओं के प्रति इंगित करती है। बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था की चार पगडंडियों से व्यक्ति मात्र को गुजरना होता है। प्रत्येक पगडंडी बहुत ही संकीर्ण एवं सम्भावनाओं से भरी होती है। अतः किसी एक प्रकार का नाम चिरस्थायी अथवा अवस्थानुकूल नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप किसी व्यक्ति का नाम यदि ज्ञानानन्द रख दिया जाये तो यह ज्ञानात्मक अवस्था प्रौढ़ावस्था के लिए तो नितान्त संगत है, किन्तु बाल्यावस्था एवं जर्जरावस्था के लिए उतना ही अप्रासंगिक होगा। इस प्रकार अवस्था के धर्म एवं गुणानुरूप अथवा सम्भवतः व्यक्ति के भविष्य में होने वाले आचरणानुरूप चार नाम रखे जाने समुचित प्रतीत होते हैं। आचरण या तो अधम होगा या मध्यम या उत्तम या फिर उत्तमोत्तम। इस तरह चार नाम, चार अवस्थाओं के तथा चार आचरणों के प्रतीक के रूप में सम्भावनाओं एवं भावनाओं के रूप में देखे जा सकते हैं। बच्चे के माता-पिता अपनी सन्तान के लिए हमेशा शुभ एवं मंगल कामनाओं से आलोडित रहते हैं, संसार की सारी खुशियाँ अपने बच्चे की झोली में उड़ेल देना चाहते हैं। अतः भारतीय दर्शन के जो परमार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदर्श के रूप में प्रतिपादित

हैं, को चार नामों की पुत्तलिकाओं में बाँधकर वो अपने निरीह शिशु को सौंप देना चाहते हैं—ऐसी भी व्याख्या नामकरण संस्कार के अन्तर्गत ढूँढ़ी जा सकती है।

6. कर्णवेध संस्कार

इस संस्कार के अन्तर्गत शिशु के कोमल कानों को एक सूचिका विशेष के द्वारा छिद्र युक्त किया जाता है, जिसके द्वारा आम जनता अपने शिशु की सुरक्षा एवं आभूषण स्थल का निर्माण होना मानती है। यह संस्कार जितना व्यावहारिक है, उतना ही दार्शनिक एवं वैज्ञानिक भी है। सर्वप्रथम व्यावहारिक दृष्टि से कर्णबेध संस्कार का महत्त्व अत्यन्त ही मान्य है। गरीबों के परिवारों से लेकर अमीरों के परिवारों तक इस संस्कार का महत्त्व समान ही देखा जाता है। इस संस्कार की मुख्य विशेषता यह है, कि इसका सम्बन्ध केवल साक्षात् सौन्दर्य के साथ अनुस्यूत होता है और अन्य सभी किये जाने वाले संस्कार या तो स्वयं बच्चे एवं उनके माता-पिता से सम्बन्धित होते है या फिर बच्चे के भविष्य एवं समाज से जुड़े होते हैं। शरीर के प्रत्येक अंगों में कर्ण की अपनी एक अलग महिमा है। ये दो होते हैं, और अपने बीच में मुख को गिरफ़्त में रखकर अपने सौन्दर्य से मण्डित करते हैं। आदमी स्वभाव से ही सौन्दर्य का प्रेमी माना गया है। जलीय पौधे एवं कच्चरों से युक्त सरोवर, अपनी ओर किसी को आकृष्ट नहीं करता और न कोई आकृष्ट होता ही दीखता है। अतः इस विशिष्ट अंग में कर्णवेध के फलस्वरूप विशिष्ट प्रकार का आभूषण नहीं पहिनाया जाये, तो सौन्दर्य का सुनहला अध्याय एक मनोरम पृष्ठ से विहीन हो जायेगा।

चिकित्सा[1] विज्ञान की दृष्टि से भी कर्णबेध संस्कार का अपना एक अलग वैशिष्ट्य है। हाइड्रोसील नामक रोग से विमुक्ति भी

1. शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासद्वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥ सुश्रुत, चि. स्थान (9-2)

इसके द्वारा सम्भव है। यदि कोई विशेषज्ञ कान की नश को पहिचान कर ठीक से छिद्र कर दे तो उक्त रोग नहीं होता। इसका ज्वलन्त उदाहरण राजस्थान प्रान्त के टोंक जिलान्तर्गत निवाई कस्बे में एक व्यक्ति है जो कि कान में छेदकर हाइड्रोसील का इलाज कर देता है।

संसार में जितनी भी धातुएं उत्खननादि के द्वारा हमें प्राप्त होती हैं, उन सभी में गहने के लिए काम्य धातुएँ असाधारण गुणों से युक्त होती हैं, जिनकी प्रतिक्रिया मात्र सौन्दर्य को ही प्रभावित नहीं करती, अपितु शरीर के अन्दर विविध रोगों के पुंज को भी बलात् प्रभावित करती है। यही कारण है कि प्रायः सभी धातुएं अग्नि के संस्पर्श से जल जाती हैं, या फिर विकृति को प्राप्त करती हैं, किन्तु स्वर्ण एक ऐसी धातु है, जिसे चाहे अग्नि में लाख तपायें, विकृति की जगह उसमें और निखार ही आता है। ज्योतिष शास्त्रियों के द्वारा नाना प्रकार के अमंगल ग्रहों की शान्ति के वास्ते अनेक प्रकार के रत्न धारण करने के लिए बताया जाता है। उनके धारण करने के स्थान भी शास्त्रों में नियमित किये गये हैं। जहाँ पर रत्न के संस्पर्श से उन व्याधियों की शान्ति में पर्याप्त सहायता मिलती है, जो आए दिन हमें देखने को मिलते हैं। इस दृष्टि से भी कर्णवेध संस्कार के द्वारा जो बच्चे के कान छिदते हैं, और उनमे उत्तमोत्तम धातुएँ सम्बद्ध की जाती हैं, का महत्त्व विद्वानों के द्वारा चिन्त्य है।

दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में प्रायः सभी दार्शनिक एकमत हैं कि यह संसार एक शून्य है, शून्य के अलावा इसमें कुछ भी नहीं है। प्रकृति के द्वारा सर्जित शरीर में अनेकों रिक्तियाँ बनायी होती हैं, किन्तु व्यक्ति के द्वारा एक रिक्ति कृत्रिमता से भर दी जाती है, जिसका संकेत संसार की अटल सत्यता एवं उसके परिचय की ओर रहता है। व्यक्ति शून्य में कुछ भी करने को स्वतंत्र है। जभी वह बाल्यावस्था

की दहलीज पर अपना कदम रखता है, तभी उनके आगे सघनता का सघन दृश्य आ जाता है, और वह अपने को कुछ करने के लिए शेष नहीं समझता है। सर्वप्रथम उनकी अज्ञानावस्था में ही कृत्रिमता से अरिक्ति में रिक्ति को उत्पन्न कर और फिर उस बीच के संकीर्ण मार्ग में भी एक आभूषण को संस्थापित कर मानों अपने बाहुबल से असम्भव काम को भी सम्भव बना देता है। शून्य, शाश्वत शून्य नहीं है, अर्थात् शून्य को पुरुषार्थ के द्वारा पाटा जा सकता है। आग के शोलों में जल के कण ढूंढ़े जा सकते हैं, पाषाण में रस के फव्वारे फूट सकते हैं, का दर्शन हमें हंसते-खेलते हुए करा देने वाले कर्णवेध संस्कार में प्राप्त होता है, जो भारतीय संस्कृति की अनुपम विशेषताओं में से एक है।

बच्चा जब पैदा होता है, तो उसकी प्रत्येक क्रिया नैसर्गिक होती है। उसका भूख लगना, उसका रोना, हंसना, लेटना भी स्वाभाविक ही होता रहता है। हम देखते हैं कि नवजात शिशु पीठ के बल दिन-रात लेटा रहता है। वह कभी करवटें नहीं लेता। ज्ञातव्य है कि करवट के समय में कर्णस्थल पर मुखमण्डल का भार पड़ा होता है। अवस्था अधिक होने के बाद यदि व्यक्ति का सौन्दर्य हेतु कर्णबेधन किया जाय तो सुषुप्तावस्था जो कि विशुद्ध अज्ञानता[1] की अवस्था है, के समय करवट लेने से उस नव छिद्र पर भार पड़े और वह रिसता हुआ व्रण का रूप धारण करले। ऐसी सम्भावना अवश्य ही की जा सकती है। परन्तु वह बच्चा जो कि बिल्कुल अपनी स्वाभाविक मुद्रा में पीठ के बल अवस्थित होता है को इस प्रकार का भय कर्णवेधन में नहीं रहता, साथ-साथ बच्चे का मांस सुकोमल और परस्पर आकर्षण से युक्त होता है जो कि कर्णवेधन हेतु अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त रहता है। फलस्वरूप घाव का जल्दी ठीक हो जाना एवं छेदन के

1. सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति —(श.प.ब्रा. 3/2/23)

समय सौविध्य होना इस कनीय अवस्था में निश्चित होता है। इन्हीं बातों में भरी वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन महर्षियों के द्वारा नवजात शिशु की परम शैशवकालीन अवस्था में ही कर्णवेध किये जाने का प्रस्ताव किया गया है।

7. निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण का अर्थ होता है बहिर्गमन, जिसका तात्पर्य दुनिया की सैर कराने से नहीं, वरन् बच्चे को घर से बाहर ले जाने से है। इस संस्कार के सन्दर्भ में वैदिक साहित्यों में अन्यतम गोभिल, खादिर, बौधायन, मानव तथा काठक ब्रह्मसूत्रों में विविध प्रकार के विवरण प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार जन्म के चौथे मास में बच्चे का निष्क्रमण संस्कार होना चाहिए। समय के सम्बन्ध में कुछ विवाद भी देखने को मिलते हैं यथा—पुराण[1] के अनुसार निष्क्रमण संस्कार बारहवें दिन में सम्पादित किया जाना चाहिए, जिसके लिए इच्छा ही प्रमाण होती है।

इस संस्कार की विधियाँ निम्नलिखित हैं—

(क) बच्चे को घर से बाहर निकाला जाना,

(ख) उसे सर्वप्रथम सूर्य का दर्शन कराया जाना,

(ग) वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया जाना, तथा

(घ) ब्राह्मणों के भोजन का आयोजन किया जाना।

ये चारों बातें निष्क्रमण संस्कार के लिए अनिवार्य हैं। जिनमें प्रत्येक के पीछे सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर कुछ निगूढ़तम तत्त्व सामने आते हैं। शुभमूहुर्त में एक निश्चित समय पर पिता के द्वारा सूर्य के सामने पुत्र को लाया जाना इस बात को स्पष्ट करता है कि बच्चे का जीवन "तमसो मा ज्योतिर्गमय" के आदर्श से मण्डित हो।

---

1. भ. पुराण, वी.मि.भा. -1

इसमें सूर्य की सी प्रतिभा, पराक्रम तथा अनवरत गतिमत्ता की शक्ति का शुभागमन[1] हो। शरीर की वृद्धि शरीर के लिए एक अनिवार्य शर्त्त है। पौधे का स्वाभाविक रूप में बढ़ना, उसमें पत्ते, फूल एवं फल का लगना सूर्य के प्रभाव से वंचित रहने पर असंभव है। सूर्य की ऊर्जा किसी भी सजीव पदार्थ के लिए बहुत ही आवश्यक[2] होती है। यहाँ तक कि वह प्राण के स्रोत के रूप में काम करती है। बच्चा भी तो एक पौधा ही है जिसे भी अनेकों प्रकार के विटामिनों, ऊर्जाओं तथा प्राकृतिक्र तत्त्वों की परमावश्यकता होती है। इन सबों की अजस्र धाराएँ सूर्य से प्रसृत होती हैं। अत: बच्चे का घर से बाहर निकलते ही सूर्य के सम्पर्क में लाना वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त ही सुचिन्तित प्रक्रिया है। चौथे मास में ही यह संस्कार किया जाता है। इसके पीछे बच्चे की असहिष्णु त्वचा को कारण माना जा सकता है। उसकी तात्कालिक त्वचा में इतनी ग्राह्यता एवं सहनशीलता नहीं होती है, जो कि बाह्य प्राकृतिक प्रभाव को बर्दाश्त कर सके। त्वरित आरोपित पौधे का सूर्य के प्रभाव से मृतप्राय दीखना बिल्कुल आम बात है। इसलिए चौथे मास से पूर्व सूर्य के सम्पर्क में लाने से बच्चे की शारीरिक स्वस्थता पर कुप्रभाव हो सकता है।

निष्क्रमण संस्कार से पूर्व वाले संस्कार घर के अन्दर में अपेक्षित व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं, किन्तु इस संस्कार में बच्चे का अपने लौकिक जीवन के नाना क्रिया-कलापों के अन्तर्गत सर्वप्रथम बहिर्गमन होता है। जो कि घर से बाहर आ करके कुछ प्रभावशाली एवं लोकोपकारी काम की ओर प्रवृत्ति कराने में देखा जा सकता है।

---

1. जीवभार्गवसौम्यानां शिशुनिष्क्रमणक्रिया।
   दिवसे शस्यते नित्यमायुर्वृद्धिधनप्रदा॥ (बृ.स्मृति)
2. एष (सूर्य:) वै गर्भो देवानाम् पिता ह्येष मतीनाम् पति: प्रजानाम्
   मा. श.प.ब्रा. 14-1-3

प्राचीनकाल में आज के वैज्ञानिक युग के अनुरूप लोगों की सुरक्षा-व्यवस्था पर्याप्त नहीं थी। आस-पास जंगल से भरा क्षेत्र होता था, जिसमें हिंसक वन्य जीव-जन्तु रहा करते थे। इनके द्वारा इस असहाय एवं अज्ञानी शिशु की रक्षा खास कर घर से बाहर अपेक्षा के अनुरूप सम्भव नहीं हो पाती थी। अत: जन्म के बहुत दिनों बाद तक उसे घर की चार दीवारी के अन्दर ही रखा जाता था और उसकी सुरक्षा के अनेकानेक प्रबन्ध किये जाते थे, जो कि इस संस्कार पर दृष्टि देने से ज्ञात होता है।

निष्क्रमण संस्कार के अनिवार्य चार अंगों में से तीसरा अंग मंत्रों का पढ़ा जाना है। भारतीय संस्कृति तंत्र-मंत्र पर कुछ अधिक विश्वास करने वाली संस्कृति है। फलत: किसी भी मांगलिक अवसर पर मन्त्रोच्चार का होना नितान्त ही स्वाभाविक है। परन्तु वेद में मंत्रोच्चार के पीछे केवल संस्कृति की परम्परा के लिए प्रयोग आ रहे आधुनिक शब्दावली में अंधविश्वास शब्द को ही एकमात्र कारण के रूप में स्वीकारा नहीं जा सकता। इसमें और भी तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। मंत्रों का वर्ण संयोजन, उसका क्रम निर्धारण उसकी ध्वनियाँ एवं उसकी अभिव्यंजनाएँ सामान्य लौकिक वाक्य से भिन्न हुआ करती हैं। जिन सबों का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक, चिकित्साशास्त्रीय एवं दर्शनशास्त्रीय महिमाओं से है। आज के विकसित समय में हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का क्षेत्र मानसिक एवं शारीरिक रोगाकुल जगत् में व्यापक होता जा रहा है। दु:साध्य रोगों का इलाज भी इस पद्धति के द्वारा आसानी से सम्भव हो जाता है। जहाँ तक कि और औषधियाँ जहाँ अपने को अशक्त मान बैठती हैं, वहाँ मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति के द्वारा ही रोग विनिर्मुक्ति होती है। ध्वनि भी एक ऐसा पदार्थ है, जो कर्णेन्द्रिय के द्वारा शरीर के अन्दर प्रवेशकर शारीरिक एवं मानसिक एवं बौद्धिक प्रतिक्रियाओं के हेतु भूत अवयवों को अपने संत्पर्श से प्रभावित करता है तथा उनकी

क्रियाओं में गति प्रदान करता है। किसी भी व्यक्ति को निद्रितावस्था में ऊंची आवाज के द्वारा प्रबोधित करने से उसके मन-मस्तिष्क पर गलत प्रभाव पड़ता है, जिससे वह पागल भी हो सकता है। इसी तरह मंत्रोच्चार का दार्शनिक स्वरूप बहुत ही रहस्यमय है, जिसके अन्तर्गत एक निश्चित शब्दों के द्वारा निश्चित समय में एवं निश्चित शैली में प्रयोग करने से बुद्धि एवं आत्मा में स्वाभाविक रूप से कुछ-कुछ परिणाम अवश्य होता है। इन्हीं सब कारणों को दृष्टि में रखते हुए भारतीय दार्शनिकों तत्ववेत्ताओं एवं महर्षियों के द्वारा प्रत्येक संस्कार के समय वेद का मंत्रोच्चार किया जाना सुनिश्चित किया गया है।

इस संस्कार के अन्तर्गत चौथी विधि ब्राह्मणों को भोजन एवं उनकी पूजा के द्वारा पूरी की जाती है। यह बात समाज की संरचना में समतामूलक सिद्धान्त, जो पश्चात्त्य एवं प्राच्य चिन्तकों द्वारा साम्यवाद के रूप में अवस्थापित किया गया है, की झलक मिलती है। वह नन्हा-सा बालक सर्वप्रथम अपने घर की चौखट के बाहर ज्यों ही बाहरी दुनियाँ के सम्पर्क में आता है, त्यों ही अपने पारिवारिक संरक्षित धन को लोगों के बीच बाँटता आता है। मानो चार मास के बच्चे में सम्पूर्ण संसार की कौटुम्बिक भावना को दर्शाया जाता है तथा एक समतामूलक समाज की संरचना की कल्पना तत्काल शिशु के माध्यम से की जाती हो।

8. अन्नप्राशन संस्कार

छठवें[1] महीने से पहले नवजात शिशु का केवल जल एवं दूध का पान करने से जीवन रक्षण होता है। तब जाकर एक शुभ मुहूर्त्त में चन्द्रबल एवं ताराबल को ध्यान में रखते हुए शिशु के पिता के द्वारा यह संस्कार सम्पादित किया जाता है। अन्न प्राशन करवाने से

---

1. षष्ठे मास्यन्नप्राशनम (आ.गृ.सू. - 1/1/16)

पूर्व माता-पिता स्नानादि से निवृत्त होकर धुले हुए वस्त्र को पहनकर बड़ी सावधानी से संकल्प लेते हैं और फिर अन्न को दही, मधु, घृत में मिलाकर अनुष्ठेय का अनुष्ठान[1] करते हैं।

अन्न प्राशन संस्कार के द्वारा बच्चे को जिन्दगी का[2] मूलमंत्र बताया जाता है कि अन्न के बिना यह जीवन चल नहीं सकता। साथ-साथ इसी के लिए सांसारिक प्रत्येक जीव एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। यदि अन्न की समस्या नहीं होती, अर्थात् पेट का सवाल नहीं होता, तो पिता पुत्र तक का नाता देखने को नहीं मिलता, यह एक शाश्वत सत्य सिद्धान्त है। छः मास के बाद बच्चे का पाचन तंत्र कुछ मजबूत होकर अधिक क्रियाशील होने लगता है, जिसमें सुपाच्य अन्न को पचा लेने की क्षमता[3] हो जाती है। अतः उपयुक्त समय एवं अवस्था को जानकर यह संस्कार छठवें मास में ही सम्पादित किया जाता है। लेकिन, यहाँ एक चिन्तनीय बात है कि अन्नप्राशन के लिए शुभ मुहूर्त का होना क्यों महत्त्वपूर्ण होता है? अन्नप्राशन से शुभ मुहूर्त का क्या सम्बन्ध हो सकता है? यह ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित एक विलक्षण तथ्य है। चन्द्र की शक्ति एवं तारों का प्रभाव हमेशा समान नहीं होता, प्रत्युत उसमें बदलाव आता रहता है। जिस बात को आधुनिक विज्ञान भी सहर्ष स्वीकारता है। उपजने वाला अन्न निश्चित रूप से ग्रहों, उपग्रहों से प्रभावित होता है, और उसकी प्रतिक्रिया भी अलग-अलग ढंग की अलग-अलग समय में हुआ करती है। कफज रोगाक्रान्त के लिए भात को रात में खाया जाना स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुचित है, किन्तु उदर व्यथा से पीड़ित व्यक्ति के द्वारा यदि उसे दिन में खाया जाता है, तो वह दोषावह न

1. दधिमधुघृतमिश्रमन्नं प्राशयेत् (आ.ग.सू. - 5/1/17)
2. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। छान्दोग्योपनिषद - 7,26,2
3. षण्मासञ्चैतमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च—शरीर स्थान 10.64

होकर गुणावह होता है। यह तो एक उदाहरण मात्र है। कहने का तात्पर्य तो यह है, कि प्रत्येक अन्न प्रत्येक समय में शारीरिक अवश्य भाविनी क्रियाओं को बलात् प्रभावित करता है। अतः मुहुर्त का विचार करना अन्नप्राशन के समय वैद्यक शास्त्र के अनुकूल बात है। बच्चे की कमजोर एवं पूर्व में अननुभूत की सी स्थिति में अन्न के साथ पाचन तंत्रिका का संघर्ष किया जाना इस समय कठिन होता है, इसलिए भी उपयुक्त समय की खोज आवश्यक प्रतीत होती है।

अन्नप्राशन कराने के समय से पूर्व माता-पिता को अत्यन्त पवित्र रहने की जो शर्त शास्त्रों में निरूपित है, उसको हम आधुनिक सूक्ष्म रूप में अवस्थित हानिकारक जीवाणु कीटाणु से बचने वाले उपायों के परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। माता को शुचि सम्पन्न होने के लिए इसलिए कहा जाता कि वह अन्नों को पक्व करती हैं, और उसे खाने लायक रूप प्रदान करती हैं। बच्चे को चूँकि पिता अपने हाथों से पुत्र को भोजन कराता है। अतः उसका भी निर्मल होना आवश्यक होता है। इस संस्कार के अन्तर्गत खिलाये जाने वाले अन्न में दधि, मधु एवं घृत का संतुलित योग दिया जाता है, जिससे कि भोजन के बाद उत्पन्न होने वाली नाना दुःशंकाओं को दूर किया जा सके। क्योंकि आयुर्वेद शास्त्रानुसार दही, मधु, एवं घृत दशाधिक बीमारियों को दूर करने की समर्थ्य अपने में संजोये रखते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अन्न प्राशन संस्कार के समय जो भी विधियाँ शास्त्रों में प्रतिपादित हैं, वे सारी की सारी किसी न किसी रूप में स्वस्थ चिकित्सा पद्धति पर आधारित हैं।

9. चूडाकर्म संस्कार

किसी तत्त्व के वास्तविक निर्धारण में यद्यपि बाह्य घटकों की अपेक्षा अन्तः घटक ही ज्यादा प्रामाणिक होते हैं; पर त्वरित बोध हेतु बाह्य तत्त्व का आश्रयण किसी के परिचय के लिए अवश्य किया

जाता है। किसी के परिधान एवम् मुखाकृति को देखकर तुरन्त पता चल जाता है कि यह साधु है, यह असाधु है। सबके अपने-अपने कुछ संकेत हुआ करते हैं। कोई पगड़ी बाँधते हैं, तो कोई टोपी लगाते हैं, तो कोई पाग पहनते हैं। इस तरह हम हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई को दूर से ही देखकर भाँप जाते हैं। किन्तु अगर कोई हमें राष्ट्रीय स्तर के नागरिक की पहिचान पूछे तो भारतीयता की पहिचान मस्तक की शिखा, धोती या साड़ी, ललाट की तिलक के रूप में ही बताते हैं। क्योंकि असल पहिचान वही है जो इच्छित लक्ष्य में लागू हो और अलक्ष्य में उसका अभाव हो। चूँकि चूडाकर्म के द्वारा हमें एक विशिष्ट पहिचान मिलती है, अतः कहा जा सकता है कि इस संस्कार के द्वारा हम भारतीय बनते हैं।

यह संस्कार धर्म शास्त्र के अनुसार तीसरे वर्ष में सम्पन्न होता है, जिसे प्रकारान्तर में मुण्डन कर्म भी कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत बच्चे को माता अपनी गोद में लेकर बैठती है। और उसके बगल में बच्चे के पिता एवं पुरोहित भी बैठते हैं। इसी समय नाई के द्वारा शिशु का पहली बार केशकर्त्तन होता है। जिसमें कि केशों का कुछ अंश एक सुनिश्चित स्थान पर छोड़ दिया जाता है।

नाई माथे के सारे केशों को काटता है, किन्तु उनके कुछ अंश को शिखा के रूप में छोड़ देता है। जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क में विद्यमान ज्ञानस्थल से है। ऐसा समझा जाता है कि मस्तिष्क में ज्ञान के लिए जो अत्यन्त संवेदनशील स्थल है, वह ठीक शिखा के नीचे का भाग ही है। स्मृतियों में शिखा की आकृति के सम्बन्ध में बताया जाता है कि गाय की खुर जितनी चौड़ी होती है, उतनी चौड़ी शिखा का होना आवश्यक है। उसी संवेदनशील[1] स्थल की सुरक्षा के वास्ते शिखा का छोड़ा जाना ऋषियों के द्वारा अभिप्रेत रहा होगा।

---

1. शिरसः शिखरे शिरा-सन्धीनां सम्मिलनं भवति। अस्य स्थानस्याधिपती रोमावर्त्तः। तत्र केनापि प्रहारेण शीघ्रमेव मृत्युर्भवति। सुश्रुत शरीरस्थान - 6.83

यहाँ यह भी ध्यातव्य तथ्य है कि गर्भस्थ शिशु के केश जो उनकी गर्भावस्था में ही पनपे होते हैं, की संलग्नता तब तक बर्करार रहती है, जब तक कि चूडाकर्म संस्कार का होना होता है। अध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से वह केश समूह नितान्त ही त्याज्य होता है। जिसके फलस्वरूप उक्त संस्कार षोडश संस्कारों में अपना अनन्यतम स्थान रखता है। हमने पूर्व में देखा है कि केश कर्तन के समय बच्चा माता की गोद में लेटा रहता है और पिता एवं पुरोहित बगल में अत्यन्त ही सावधानी से उस दृश्य को देखते रहते हैं। जिसके पीछे केवल माता-पिता एवं पुरोहित का निश्छल वात्सल्य, स्नेह ही कारण नहीं होता, वरन् बच्चे की चञ्चलता सुलभ क्रियाओं प्रतिक्रियाओं के द्वारा कर्त्तली से क्षतविक्षत हो जाने की सम्भावनाओं को रोकने के लिए उन लोगों की उपस्थिति अभिमत होती है। बच्चे की प्रत्येक हरकत वहाँ बैठे हुए व्यक्तियों की समझ में आ जाये, इसलिए वहाँ जल एवं दर्पण का रखा जाना भी अनिवार्य होता है। ज्ञातव्य है कि जल एवं दर्पण दोनों ही छाया की प्रतिच्छाया को अपने में बिम्बित कर देने की शक्ति रखते हैं। अतः बाल्यसुलभ हर एक चेष्टाओं का अध्ययन इन उपकरणों के द्वारा आसानी से सम्पन्न होता है।

याज्ञवल्क्य की भूमि मिथिला में जबतक उपनयन संस्कार न हो, तबतक नाई बच्चे का बाल कैंची से ही काटते हैं। उस्तरे का प्रयोग नहीं होता। सम्भव है कि यह पद्धति राष्ट्र के अन्य भागों में भी विद्यमान हो। इसमें एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक कारण है। तीसरे साल के बच्चे का मस्तिष्क-चर्म अत्यन्त ही नाजुक होता है। छुरी से बाल छिलने में चमड़े की ऊपरी सतह भी छिल जायेगी। वह व्रणित हो जायेगा। इसलिये यज्ञोपवीत संस्कार को एक अवधि के रूप में रखा गया है। तब तक बालक के माथे का वह भाग सख्त हो जाता है। फिर हम जिस तरह से चाहें, उसकी केशसज्जा कर

सकते हैं। प्रारम्भ में तो "जब तक उपनयन नहीं हो, तब तक उस्तरे नहीं लगे" सुनकर हास्यास्पद-सा लगता है, किन्तु जब हम इसमें निहित चिन्तन को देखते हैं, तो पाते हैं कि यह एक वैज्ञानिक तथ्य है।

शिखा के सम्बन्ध में यद्यपि कुछ विवाद भी सामने आते हैं कि शिखा नहीं भी रखी जा सकती है। अथवा एक बार सम्पूर्ण का कर्तन हो जाये और फिर नये बाल के उगने पर यह रखी जाये—इस तरह का भी विसंवाद ग्रन्थों में प्राप्त होता है, जिस में दूसरा पक्ष कुछ अधिक ही वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

10. विद्यारम्भ संस्कार

सृष्टि के समस्त प्राणियों में मानव जाति का स्थान सर्वोपरि है, जिसका केवल एक ही कारण विद्या है। यदि विद्या मनुष्य के पास न होती तो अन्य जीव ही उनसे अधिक सम्मान के भागीदार होते। चूँकि इस संस्कार के द्वारा क्षणभंगुर संसार में व्यक्ति के पदार्पण के बाद विद्या रूपी परम लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु श्रीगणेश किया जाता है जो कि एक महत्त्वपूर्ण एवं दूरदृष्टि तथा दूरगामी परिणाम का कारण होता है। अत: भारतीय अनुपम संस्कृति में विद्यारम्भ संस्कार का महत्त्व सभी संस्कारों में प्रमुख है, जिसके पीछे मनुष्य में मनुष्यत्व का उपपादन करना चरम लक्ष्य के रूप में निहित होता है।

"लालयेत् पंचवर्षाणि"—के आधार पर प्रारम्भ के पाँच वर्षों तक शिशु का जीवन लाड़-प्यार से भरा होता है। इस अवधि में उसकी चपलता, अज्ञानता एवं चित्त की अस्थिरता पराकाष्ठा पर होती है, अत: इस समय को अध्ययन हेतु उपयुक्त नहीं माना जाता। सामान्यत: 5 वर्ष के बाद बच्चे की बुद्धि परिपक्व होने लगती है। उसमें ग्राह्य शक्ति का अधिक आविर्भाव होने लगता है। खासकर

अध्ययन जैसे प्रारम्भिक समय में नीरस लगने वाले कार्य में बच्चों की सहज प्रवृति के क्या कहने बुजुर्गों की प्रवृत्ति भी कम ही देखी जाती है। इसलिए भारतीय परम्परा के अनुसार विद्यारम्भ के लिए समुपयुक्त समय पाँचवाँ[1] अथवा पाँचवें वर्ष के बाद ही स्वीकार किया गया है और इस परम्परा में जीने वाले लोग इसी समय अध्ययन जगत् में अपना पहला कदम बढ़ाते हैं। हमारी संस्कृति प्रत्येक वस्तु को परोक्ष की सत्ता से जोड़ती है। पुरुषार्थ के अलावा परमार्थ का भी अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। अतः विद्यारम्भ संस्कार में अक्षरारम्भ से पूर्व कुछ देवी-देवताओं की अर्चना भी की जाती है। अक्षरारम्भ संस्कार में विष्णु, लक्ष्मी एवं सरस्वती की पूजा[2] प्रमुखतः मानी गयी है। चौंसठ करोड़ देवी-देवताओं मे इन्हीं तीनों की पूजा प्राथमिकतया क्यों होती है, इसके पीछे भी रहस्य है। लक्ष्मी प्रेयस मार्ग की प्रतिनिधि भूता हैं, सरस्वती श्रेयस् मार्ग की अधिष्ठात्री हैं एवं विष्णु दोनों के मध्य एक विलक्षण समन्वय स्थापित करने वाले समन्वयक के रूप में अवस्थित हैं। इस प्रकार इन तीनों तत्त्वों के प्रति पूजा के द्वारा सम्मान प्रदर्शित कर अक्षरारम्भ के माध्यम से व्यक्ति श्रेयो मार्ग व प्रेयो मार्ग की समन्वयात्मक स्थिति में पहुँचने की मनसा बनाकर प्रयत्नशील होता है।

किसी भी कार्य में देवी-देवताओं को जोड़ने की विलक्षण प्रथा अन्धविश्वास की उपज नहीं कही जा सकती। इसमें महज वैज्ञानिकता निहित होती है। ऐसा तो लौकिक व्यवहार में नित्य प्रति अनुभव किया जाता है कि किसी भी कार्य के समय व्यक्ति को यदि विश्वास हो कि मेरे पीछे एक अत्यन्त ही वरिष्ठ सहायक सहायता करने के

---

1. प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे ह्यप्रसुप्ते जनार्दने।
   ....विद्यारम्भन्तु कारयेत्॥ (हेमाद्रौमार्कण्डेयः)
2. पूजयित्वा हरिं लक्ष्मीं देवीं चापि सरस्वतीम् (हे.मा.)

लिए तैयार है, तो वह व्यक्ति द्विगुण उत्साह एवं विश्वास के साथ अपने लक्ष्य साधन में प्रवृत्त होता है। ठीक इसके विपरीत कोई विशिष्ट आदमी भी किसी सामान्य कार्य करने के समय यदि अकेलापन महसूस करता है, तो उसकी हिम्मत या तो स्वाभाविक स्थिति में होती है, अथवा उससे भी निम्न स्तर की हो जाती है, ऐसा अनुभव हमें कार्य जगत् के प्रत्येक क्षेत्र में होता है और अनुभूत पदार्थ का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। यही तथ्य भारतीय संस्कृति की प्रत्येक विधा में निहित है। इसीलिए व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक काम पारलौकिक शक्ति से जुड़े होते हैं, जिससे उत्साह एवं विकास में असाधारण वृद्धि होती है।

इस संस्कार के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात है कि किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति के द्वारा बालक का अक्षरारम्भ धरती पर कराया जाता है। बच्चे का हाथ पकड़ कर अक्षरारम्भ कराने वाले व्यक्ति मिट्टी पर लिखवाने से प्रारम्भ करके विद्यादान की शुरूआत करते हैं। यदि उस शिशु को आधुनिकतम कागज एवं कलम देकर, कृत्रिमता के रंग में रंगकर अक्षरारम्भ कराया जाये, तो उसमें बच्चे के सहज स्वभाव से अन्तर्द्वन्द्व हो सकता है। मिट्टी के साथ खेलने में बच्चा एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति करता है। वह मिट्टी पर ही जन्म लेता है, चलना सीखता है, दौड़ पाता है, और हमेशा धूल धूसरित रहने की मनसा रखता है, जो बच्चे के मनोविज्ञान का सहज सिद्धान्त है। अतः सहजतापूर्वक अपने सुपरिचित उपकरणों के द्वारा यदि बालक का अक्षरारम्भ करवाया जाये तो उसके मन का खिंचाव स्वाभाविक रूप से अक्षरारम्भ में हो जाता है। इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना होता, साथ-साथ बच्चा उस पढ़ने की क्रिया को एक क्रीड़ा समझकर ही मनोगम्य कर लेता है, जो तरीका आधुनिक शिक्षा पद्धति से कहीं ज्यादा वैज्ञानिक, सहज तथा सरल है।

11. उपनयन संस्कार

विद्यारम्भ संस्कार से बच्चे की जीवन यात्रा ज्ञान के क्षेत्र में शुरू हो जाती है और फिर उपनयन संस्कार द्वारा उसका दृढ़ीकरण किया जाता है। इस संस्कार की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं पर आचार्यों ने अनेक व्याख्याएँ की हैं, अतः मैं चर्वित चर्वण नहीं करके अपनी एक अलग ढंग की व्याख्या करना चाहूँगा। उपनयन मैं दो शब्द हैं, पहला—"उप" जो कि एक उपसर्ग है, और अपने साथ आये शब्द को विशिष्ट करता है। दूसरा शब्द "नयन" है, जिसके दो अर्थ लिये जा सकते हैं। "नीयते अनेन इति नयनम्" अर्थात् जिस संस्कार के करने से संस्कृत व्यक्ति को ले जाया जाता है, और दूसरा नयन शब्द नेत्र अर्थ में रूढ़ है, जिस दृष्टि से भी उपनयन शब्द की व्याख्या की जा सकती है। वैसे ही उपसर्ग का कोई भी अर्थ सुनिश्चित नहीं होता, फिर भी उप शब्द समीप वाची अर्थ में अधिक प्रसिद्ध है। प्रकृति प्रदत्त आँख तो प्रत्येक व्यक्ति की होती ही है, परन्तु इस श्रुति प्रतिपादित संस्कार के द्वारा ज्ञान रूपी नेत्र का प्रस्फोटन होता है। यह ज्ञान चक्षु-चर्मचक्षु के बिल्कुल करीब रहता है, जिसका स्थान शास्त्रों में त्रिकुटि अर्थात् दोनों भौहों के मध्य निरूपित है। नयन शब्द का रूढ़ अर्थ नहीं मानकर यदि व्युत्पतिलब्ध अर्थ स्वीकार किया जाये, तो किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास ले जाये जाने की योग्यता प्राप्त कर लेना उपनयन[1] पद से अभिप्रेत अर्थ होता है। इस तरह दोनों स्थितियों में उपनयन संस्कार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं वैयक्तिक जीवन के लिए बहुआयामी मार्ग का सृजन करता है।

हमने उपनयन पद में ज्ञान चक्षु को ढूँढ़ने का प्रयास किया है, जो कि एक वास्तविक तथ्य है। श्रुतियों, स्मृतियों में जब तक बालक

---

1. उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम्-भारुचि

उपनीत नहीं हो जाता, तब तक उसमें वेदाध्ययन[1] अर्थात् नियमित ज्ञानोपार्जन की अर्हता नहीं मानी जाती। उपनयनोत्तर बालक गुरु के आश्रम को अपना घर बनाता है। वहीं नियम, निष्ठा एवं श्रद्धा के साथ ज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत करता है। गुरु के सान्निध्य का लाभ कर ज्ञान रूपी परम तत्त्व से सायुज्य प्राप्त करता है। अतः उपनयन शब्द उपनेत्र अर्थ में संगतियुक्त होता है तथा वह गुरु के पास चूँकि जाता है, और संस्कार के द्वारा जाने की पात्रता प्राप्त करता है, इसलिए दोनों ही भावों में उपनयन संस्कार की अक्षरशः सत्यता प्रतीत होती है।

यद्यपि उपनयन संस्कार में की जाने वाली विधियाँ विविध प्रकार के महत्त्व वाली होती हैं, फिर भी मैं विस्तार के भय से सम्प्रति केवल दो तथ्यों पर ही विचार प्रकट करता हूँ। उपनयन संस्कार को यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है। यज्ञोपवतीत एक विशेष धागे से बना होता है, जिसे व्यावहारिक भाषा में जनेऊ कहा जाता है। इस संस्कार के द्वारा ब्राह्मणवटुक का जनेऊ से धार्य-धारक भाव होना एक अनिवार्य शर्त के रूप में है। अब प्रश्न यहाँ यह उठता है कि यज्ञोपवतीत धारणा के पीछे क्या रहस्य है ? भारतीय ऋषियों, महर्षियों ने इसके धारण पर किन चिन्तनों[2] के अधीनत्व को स्वीकार कर लिया। हाल[3] ही में इटली में एक वैज्ञानिक शोध सम्पन्न हुआ है, जिसमें यज्ञोपवीत के महत्त्व के बारे में व्यापक छान-बीन की गयी है। जिसका निष्कर्ष है कि जनेऊ धारण करने वाले व्यक्ति, शरीर के स्वाभाविक शौचादि कर्म करने के समय अपने कान को जनेऊ के द्वारा मजबूती से बाँधते

---

1. उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
   वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥ या. स्मृ. 1-15
2. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
   आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥पा.गृ.सू. 2-2-13
3. 1994 ई.

हैं, जिसका प्रभाव साक्षात् हृदय रोग पर पड़ता है। कान के आस-पास एक पतली-सी इस तरह की नस होती है, जिसे यदि जनेऊ से बाँधा जाता है, तो उसके पिच जाने से हृदय प्रदेश के अवयव प्रभावित होते हैं तथा इस रोग की सम्भावना कम हो जाती है। यज्ञोपवीत धारण एवं उसके द्वारा कर्ण बंधन से मस्तिष्क सम्बन्धी चिन्तन प्रयुक्त रोग का भी निराकरण होता है। इसका तृतीय प्रभाव उस व्यक्ति पर भी पड़ता है, जिसे शक्ति क्षय की बीमारी होती है। मल-मूत्र के द्वारा अनजाने में व्यक्ति की शक्ति बाहर निकल जाती है। इस तरह के रोगी यदि उत्सर्जन के समय कान को शक्ति से बाँधते हैं, तो उसे उक्त रोग से बहुत ही आफियत महसूस होती है। हमारे दैनिक जीवन के उपयोग में आने वाली चीजों से जाने-अनजाने अनेक प्रकार के कीटाणुओं तथा प्रदूषणों का हमें शिकार बनना पड़ता है, जिससे भी यज्ञोपवीत धारण से बहुत कुछ विनिर्मुक्ति मिलती है। यज्ञोपवीत कान में बाँधने के बाद उसमें से हटाने के लिए व्यक्ति निश्चित रूप से अपना हाथ धोता है। इस प्रकार बार-बार हाथ धोते रहने से मैले हाथों के द्वारा फैलने वाले प्रदूषण एवं कीटाणुओं का प्रसार अवरुद्ध होने में हमें स्वाभाविक रूप से सहायता मिलती है।

यदि स्थूल रूप में विचार किया जाये तो भी इसका महत्त्व बहुत अधिक प्रतीत होता है। मान लिया जाये कि किसी आदमी को किसी निर्जन स्थान में साँप ने डस लिया और चिकित्सालय वहाँ से मीलों दूर है तो वह आदमी अपने शरीर के यज्ञोपवीत को निकाल कर उस स्थान से कुछ ऊपर बाँध सकता है तथा किसी वस्तु से काट कर उस स्थान के जहरीले रुधिर को बहा कर अपनी जान बचा सकता है।

उपनयन संस्कार में शिशु के बाल प्रथम बार उस्तरे से काटे जाते हैं और सिर का जो पिछला हिस्सा होता है, उसके ऊपर भाग

में कुछ बालों का समूह छोड़ दिया जाता है, जिसे शिखा, चूड़ा, शिरा शब्द से जाना जाता है। इसके आकार-प्रकार के सम्बन्ध में धर्म शास्त्रों में गाय के खुर के बराबर रहने देने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। ज्ञातव्य है कि जहाँ शिखा का स्थल होता है, वहाँ मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्र का स्थान भी रहता है, जिससे बालों का एक समूह हमेशा शीतलता प्रदान करता है। फलस्वरूप ज्ञान केन्द्र की क्रियाशीलता में वृद्धि होती रहती है, और वह थकान का कम अनुभव करता है।

इस प्रकार यज्ञोपवीत संस्कार के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं मस्तिष्क के क्रिया-कलापों पर प्रभावकारी प्रतिक्रिया तो होती ही है, साथ-साथ एक सुन्दर एवं स्वस्थ वातावरण में व्यक्तित्व का निर्माण भी किया जाता है।

12. वेदारम्भ संस्कार

धर्मशास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित उपनयन संस्कार से संस्कृत बालक अपने माता-पिता, परिवार एवं समाज को कुछ दिनों के लिए छोड़कर गुरु के आश्रम में प्रवेश करता है, और फिर ज्ञान के सागर वेद को पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस पढ़ने के क्रम में गुरुकुल के नियमानुसार आचरण करना पड़ता है, तथा एक सुनिश्चित दिनचर्या में वह बँध जाता है। सम्पूर्ण धरती पर एकमात्र यह भारतीय संस्कृति ही ऐसी है, जिसमें पलने वाला बच्चा अपने शैशवकाल में ही विद्या की प्राप्ति के लिए अपनों का त्याग कर पराये में अपनत्व की परछाई देखता है, उनके बताये हुए रास्ते पर चलता है, और ऐसा इसलिए करता है कि ज्ञान की प्राप्ति लाड़-प्यार की दुनियाँ में नहीं हो सकती, अपितु एक शान्त एवं स्वस्थ वातावरण में ही वह मिल पाती है। इस तरह का वातावरण गुरु के आश्रम में ही सम्पन्न किया जाता है। इस संस्कार से तात्पर्य ज्ञान की उपासना से है। इसे वेदमात्र पढ़ने का

संस्कार मानना अज्ञानता नहीं, तो ज्ञान की भी बात नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वेद तो एक उपलक्षण[1] है, जो ज्ञान की प्रत्येक विधाओं को अभिव्यक्त करता है। वैसे वेद की व्यापकता पर यदि हम नजर दें तो हम पायेंगे कि ज्ञान का कोई भी ऐसा संकीर्ण से संकीर्ण क्षेत्र नहीं है, जो कि वेद में नहीं मिलता हो। इस प्रकार वेदारम्भ से यद्यपि ज्ञानारम्भ का आशय ही ग्राह्य है, फिर भी ब्राह्मण-वशिष्ठ न्याय से वेद पद के द्वारा ज्ञान का कहा जाना अधिक समुचित प्रतीत होता है। ज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व है जो कि व्यक्ति को दूसरे जीवों से अलग पहिचान प्रदान करता है, जिसके आगम स्थल के लिए रास्ते की शुरूआत वेदारम्भ संस्कार से होकर ही की जाती है। अतः ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से वेदारम्भ संस्कार अपने आप में बहुत ही आदरणीय संस्कार है, जिसके द्वारा व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है।

13. समावर्तन संस्कार

भारतीय परम्परा के अनुसार मनुष्य की चारों अवस्थाओं के लिए चार आश्रमों की परिकल्पना की गयी है ब्रह्मचयाश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम। जिसका स्पष्ट स्वरूप संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य महाकवि कालिदास के द्वारा रघुवंश महाकाव्य में लिखित श्लोक के अनुशीलन से प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्   यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनाम्,   योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥(रघुवंश, प्र.स.)

इस पद्य में रघुवंशीय राजाओं की जीवनशैली का ही विवरण नहीं मिलता, वरन् भारतीय संस्कृति की आत्मा का सच्चा स्वरूप दिग्दर्शित होता है। बाल्यावस्था में ब्रह्मचारी वेश को अपनाकर पूर्ण

---

1. इत्थं चतुर्दश विद्यास्थानानि ब्रह्मयज्ञकाले अध्येतव्यत्वेन उपलक्षितानि —(सा. भा., श.प.ब्रा. - 11/3/8)

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए व्यक्ति विद्याभ्यास करता है। उसके बाद वह गार्हस्थ्य में प्रवेश कर मानवीय जीवन के स्वाभाविक व्यवहारों का अनुपालन करता है। पुनः जीवन के योगक्षेम का निर्वहण करते हुए वानप्रस्थ की ओर प्रवृत्त होता है, और अन्त में वह बिल्कुल संन्यासी बनकर माया-मोह, ममता एवं जगत् के भौतिक नाते को त्यागकर ब्रह्माण्ड के चरम सत्य को स्वीकार कर लेता है। ये चारों आश्रम मानव-मात्र की चारों अवस्थाओं की स्वाभाविक परिणति है। प्रत्येक समय प्रत्येक काम के लिए समुपयुक्त नहीं होता, वरन् एक सुनिश्चित अन्तराल में सुनियोजित ढंग से किये जाने वाले काम सरलतया सफल होते हैं। इसके विपरीत आचरण करना प्रकृति के विरुद्ध माना जाता है, और उसकी अनेक गलत प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। इन्हीं तथ्यों के आधार पर प्राचीन भारतीय मनीषियों के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था बनायी गयी जो कि अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक, मानव की सहज प्रवृत्ति के अनुकूल, सत्य के प्रति सकारात्मक रुझान एवं महज मानव विज्ञान के धरातल पर अवस्थित है। भारतीय संस्कृति की अनेकानेक विशेषताओं में आश्रम व्यवस्था एक ऐसी विशेषता है, जिसकी जोड़ी दुनिया की तमाम संस्कृतियों में नहीं मिल सकती। भले ही यह मानव जीवन की सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है, अतः इस प्रकार का जीवन चरित्र अन्य संस्कृतियों में पलने वाले प्रौढ़ व्यक्तियों में पाया जा सकता है, किन्तु इस तरह की एक शृंखलाबद्ध तारीखें अन्य संस्कृतियों में बिल्कुल नहीं मिलती हैं। इन्हीं वैज्ञानिक परम्पराओं से गुजरने वाले व्यक्ति के लिए समावर्त्तन संस्कार का प्रावधान किया गया है, जिसके तहत अपनी अत्यन्त शैशवावस्था में मातृ-पितृ गृह को त्याग कर विद्याभ्यास के लिए ब्रह्मचर्याश्रम के कठोर नियमों का अनुपालन करने वाला मानव आचार्य की आज्ञा से ब्रह्मचर्यव्रत का समापन करता है और जीवन के द्वितीय आश्रम,

गृहस्थाश्रम में प्रविष्टि की अर्हता प्राप्त करता है। यह क्षण दो आश्रमों के मध्य का क्षण है। एक ओर तो वह व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम के अभौतिक वातावरण में पालित होकर अन्तिम सोपान पर ड़ाड़ा रहता है, और दूसरी ओर वह गृहस्थाश्रम के नवीन लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सीढ़ियों की कतारों में प्रथम सीढ़ी पर कदम रखने वाला ही होता है। यहाँ एक मीमांसा योग्य बात है कि तथाकथित ब्रह्मचारी जब तक अपने गुरु की आज्ञा का संकेत नहीं पाता, तब तक वह स्वगृह[1] के लिए दिल में घुमड़ रही अनेकों कल्पनाओं के बावजूद प्रस्थान नहीं करता। ऐसा केवल भारतीय संस्कृति में ही मिल सकता है। इतना त्याग, इतनी तपस्या, इतनी गुरु भक्ति अन्य संस्कृतियों में बिल्कुल दुर्लभ-सी है, जो कि समावर्त्तन संस्कार के अन्तर्गत हमें सर्वत्र देखने को मिलती है।

समावर्तन संस्कार में अध्यापक अपने शिष्य से वैदिक परम्पराओं के अनुसार मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, अतिथि देवो भव इत्यादि आदर्श नियमों के अनुपालन हेतु शपथ ग्रहण करवाते हैं। सत्य की राह पर गमन, त्याग, तपस्या एवं लोक हित हेतु बलिदान के लिए शिष्य की मनसा जब दृढ़ हो जाती है, और अनेक परीक्षाओं के बाद जब गुरु को विश्वास हो जाता है कि वह गार्हस्थ्य में प्रवेश करने के बाद अनुचित मार्ग का गामी नहीं बनेगा, समाज राष्ट्र तथा संसार के लिए हित की बात करेगा और "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भारतीय शाश्वत भावना से अभिभूत रहेगा, तभी व्यक्ति का ऐहिक लौकिक दुनिया में आगमन हो पाता है, और फिर वह अपने अनुष्ठेय कर्मों को सम्पादित करता है। इस प्रकार मानवीय जीवन, दानवीय जीवन

---

1. स्वीकरोति यदा वेदं धत्ते वेदव्रतानि च।
ब्रह्मचारी भवेत्स्नातस्ततः पश्चादगृही भवेत्॥ (पुरुषार्थचिन्तामणि)

का रूप न ले ले, प्रकृति की विकृति मानवों के द्वारा न हो जाये तथा एक स्वच्छ एवं स्वस्थ समाज की संरचना हो, के लिए समावर्त्तन संस्कार रूपी कदम भारतीय संस्कृति की अत्यन्त प्रशंसनीय बात मानी जा सकती है। ऐसी दूर दृष्टि, संवेदनाओं से भरी भावना, सख्त अनुशासन, और व्यतीत के गर्भ से अनागत के बीज का प्रस्फुटन समावर्तन संस्कार की सच्ची पहिचान है।

14. केशान्त अथवा गोदान संस्कार

संस्कारों के सुदीर्घ इतिहास में समय-समय पर संस्कारों की संख्या, उनके स्वरूप एवं उनकी व्यवहार्यता में परिवर्तन होता रहा है। अतः गृह्यसूत्रों-स्मृतियों में इनमें अन्तर दिखाई पड़ना स्वाभाविक है। यद्यपि केशान्त संस्कार आज अन्य संस्कारों की तरह प्रसिद्धि-प्राप्त नहीं है, फिर भी जनमानस में व्याप्त षोडश संस्कारों में से यह संस्कार अन्यतम है तथा इसकी कतिपय विशेषता हमें वरवश अपनी ओर खींच लेती है।

मैं केशान्त संस्कार के निम्नलिखित पाँच बिन्दुओं को अपनी विवेचना के अन्तर्गत रेखांकित करना चाहूँगा। वे हैं—

(क) सोहलवें वर्ष में इस संस्कार का होना,

(ख) दाढ़ी-मूँछ का कर्त्तन,

(ग) बाल और नाखून का जल में समर्पण,

(घ) गुरु को शिष्य के द्वारा गोदान दिया जाना, और

(ङ) संस्कारान्त में एक वर्ष तक कठोर अनुशासित जीवन।

(क) सामान्य स्थिति में किशोरावस्था की समाप्ति एवं युवावस्था का आरम्भ सोलहवें वर्ष में होता है। इस समय गुरुकुल में अध्ययनरत छात्र अपने अन्दर कुछ मूक संवेदनाओं का अनुभव करने लगता है। शारीरिक विकास के साथ शरीर की आकांक्षाएँ एवं अपेक्षाएँ बढ़ने

लगती हैं। बाहर का वातावरण पहले की अपेक्षा उसे ज्यादा आकर्षक लगता है। प्रकृतिनटी का नयनाभिराम चित्र तथा कोकिल कुल की काकली उसके हृदय में गुदगुदी पैदा करती है। इस स्थिति में भारतीय संस्कृति, जो कि व्यक्ति की प्रत्येक अवस्था एवं उसकी समुचित व्यवस्था के प्रति बड़ी ही जागरूक है, पुनः एक संस्कार की आवश्यकता महसूस करती है। आपने पहले भी देखा है, और आगे भी देखेंगे कि जब-जब मानवीय अस्तित्व किसी बड़े परिवर्तन की ओर पहला कदम बढ़ाता है, तब-तब उसे संस्कार के द्वारा संस्कृत, नियन्त्रित तथा एक स्वस्थ भाव-भूमि से युक्त किया जाता है। अतः केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष में ही शास्त्रकारों के द्वारा अभिप्रेत है।

(ख) इस संस्कार के अन्तर्गत दाढ़ी-मूँछ का विशेष रूप से कटाने का विधान है, इसलिए इसका नाम केशान्त पड़ा। उल्लेखनीय है कि इससे पहले मुँह में दाढ़ी-मूँछ उग आती हैं और यह कर्त्तन उसका प्रथम कर्त्तन होता है। सुश्रुत[1], चिकित्सा स्थान (24-72) एवं चरक[2] में केश एवं श्मश्रु-कर्त्तन को हर्ष, लाघव, सौभाग्य, उत्साह, पौष्टिकता एवं आयुष्य का साधन माना है। शतपथब्राह्मण[3] में कहा गया है कि चूँकि जल पवित्र करने वाला है, और वह दाढ़ी-मूँछ के रहने के कारण ठीक से अन्दर जाकर पवित्र नहीं कर पाता, अतः श्मश्रुकर्त्तन कराना चाहिए। यह तो श्मश्रुकर्त्तन का चिकित्साशास्त्रीय पक्ष है, किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर यह एक सुचिन्तित वैज्ञानिक

---

1. पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
   हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्॥ (24-72)
2. पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
   केशश्मश्रुनखादीनां कर्त्तनं सम्प्रसाधनम्॥
3. तत्केशश्मश्रु च वपते, नखानि च निकृन्तते।
   अस्ति वै पुरूषस्यामेध्यं-यत्रास्यापो नोपतिष्ठन्ते।
   केशश्मश्रौ च वा अस्य नखेषु चापो नोपतिष्ठन्ते—3/1/2

प्रयोग मालूम पड़ता है। इस संस्कार के उद्देश्य-सम्बन्ध में मैंने थोड़ा इशारा पहले किया है। इसका मुख्य प्रयोजन यौवन प्रयुक्त विषय भोग की लिप्सा का प्रतिषेध है। श्मश्रु कर्त्तन के ब्याज से शृङ्गार व शृङ्गार प्रसाधन से खबरदार किया गया है। काम एक ऐसा पदार्थ है, जिसे उपयुक्त समय तथा समुचित परिस्थिति में सेवन करना चाहिए। वरना थोड़ी-सी असावधानी से वर्त्तमान एवं भविष्य का पूरा समीकरण बिगड़ जाता है। यह अवस्था उसके सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की अवस्था है। अभी बहुत कुछ तपस्या एवं विद्यागम अवशिष्ट रहता है। इस अवधि में उसे शृङ्गार के साथ तनिक भी मेल नहीं होता। यह सामान्य तथ्य है कि केशों एवं केशसज्जाओं में मोहक शक्ति होती है। इसका निषेध एक विशिष्ट प्रतीक के रूप में है। जिसके द्वारा आगामी दुःसम्भावना के प्रति सतर्क किया जाता है, और श्मश्रुकर्त्तन के द्वारा मोहन शक्ति पर अंकुश लगाने का एक आयुध प्रदान किया जाता है।

(ग) बाल और नाखून बनाने के बाद विधि-ग्रन्थों में स्पष्टतः उल्लेख है कि उनको कहीं घर या प्रांगण के आस-पास नहीं अपितु तालाब में फेकना चाहिये। ज्ञातव्य है कि नाखून के रिक्त हिस्से में गन्दगी रहती है। वह अगर यत्र-तत्र प्रक्षिप्त हो, तो प्रदूषण फैलेगा। बाल के सम्बन्ध में चाहे वह चूडाकरण हो, अथवा केशान्त; सरोवर में ही प्रक्षेप करने का विधान है। बाल एक बहुत ही हल्का पदार्थ है। वह तनिक हवा के संस्पर्श से भोज्य-पदार्थ व पेयपदार्थ में जाकर मिल सकता है, तथा मुख के मार्ग से जाकर उदर-तन्त्रिकाओं को कुप्रभावित कर सकता है। ऐसे बड़े-बुजुर्ग कहते सुने जाते हैं कि अगर पेट में केश चला जाय तो बिना शल्यक्रिया का वह बाहर नहीं होता है। अर्थात् पाचन-शक्ति की इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि जठरानल में उसका पाचन हो जाय। इसलिये नाखून और बाल को जो तडाग

में अर्पित करने का विधान किया गया है, वह वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

(घ) किसी भी काम के तीन फल हो सकते हैं—दृष्ट, अदृष्ट अथवा दृष्टादृष्ट। दृष्ट फल वह है जो प्रत्यक्ष होता है। जैसे भोजन करने से सद्यः बुभुक्षा की निवृत्ति होती है। अदृष्ट वह है, जो प्रत्यक्ष तो नहीं होता, किन्तु परोक्ष रूप से उस काम का फल मिलता है, जैसे "स्वर्गकामोमयजेत"। स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिये—इस विधि वाक्य के परिप्रेक्ष्य में जब यजमान यज्ञ करता है, तो स्वर्गप्राप्तिरूप फल तत्क्षण नहीं मिलता, तथा वह प्रत्यक्ष भी नहीं होता। हाँ, उस यज्ञ से अदृष्ट या अपूर्व की उत्पत्ति होती है और वह मरणोत्तरकाल में स्वर्गप्राप्ति का कारण बनता है। कुछ फल दृष्टादृष्ट होता है, जैसे यदि आम के पेड़ की जड़ में पितरों को पानी दिया जाय, तो पेड़ भी सिंचित होता है और पितर भी तृप्त होते हैं। गोदान करने के लिए सनातन धर्म में बार-बार प्रेरित किया जाता है, वह दृष्टादृष्टफल से युक्त होता है। गोदान का दृष्ट फल तो पंचगव्य (दूध, दही, घी, गोबर और मूत्र) की प्राप्ति है और अदृष्ट फल पुण्य-प्राप्ति के रूप में होता है। मैं इस गोदान की प्रक्रिया के एक निगूढ़तम रहस्य का यहाँ खुलासा करना चाहूँगा। ब्राह्मण[1] ग्रन्थ में स्पष्टाक्षर के द्वारा बताया गया है कि गोचर्म जो आज है, वह पहले मनुष्य चर्म था। शरीर के ऐसे तो बहुत अंग हैं, लेकिन उनके स्थान कहीं एकदेश में ही निर्धारित हैं। परन्तु चर्म सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। वह शरीर का सौन्दर्य तथा आवरण है। ज्ञानेन्द्रियों में प्रमुख है। अगर गोदान किया जाता है, तो प्रकारान्तर से वह एक विशिष्ट अंग का दान है। जो कि भक्ति,

---

1. वेद ह गौः अहमस्य त्वचं बिभर्मीति। सा बिभ्यती त्रसति त्वचं आदास्यते इति—श.प.ब्रा. 3/1/7, तथा च-या ह वा इयं गोस्त्वक् पुरुषे हैवाग्र आस — 3/1/13

अनुरक्ति एवं त्यागमय चित्तवृत्ति का अप्रतिम परिचायक है । व्यवहार में भारतीय संस्कृति गाय को माता से अभिन्न मानती है । माँ का अंचल छाया प्रदान करता है । शरीर का सृजन एवं उसकी संरचना माता के आगोश में ही होता है । अगर गाय को माता कहा जाता है, तो इतना सुनिश्चित करना होगा कि माता के तमाम गुण-धर्म उसमें मौजूद हों । दूध, दही, घृत आदि के द्वारा व्यक्ति के सृजन में गाय का वही विनियोग है, जो एक माता का है, जो कि सर्वजनसंवेद्य है । इसके अतिरिक्त चूँकि उसका चर्म मानवीय है, तथा चर्म में उपर्युक्त गुण-तत्त्व हैं; इसलिए भी गाय में मानव के मातृत्व का व्यपदेश अगर होता है, तो यह एक स्वाभाविक तथ्य है ।

(ङ) केशान्त संस्कार में जो विधियाँ हैं, उनमें से एक इस संस्कार के बाद एक वर्ष तक कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करना है । परन्तु यह विचारणीय है कि ऐसा कठोर अनुशासन क्यों ? मानसिक विद्रूपता यकायक नहीं होती है, प्रत्युत वह चरणबद्ध तरीके से आती है । यदि प्रारम्भ के क्षण में ही हम सचेत हो जायँ, तो उसके आने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । जब कोई भी चीज परिपक्व हो जाती है, तो उसका दमन या शमन कठिन हो जाता है । अतः दुःसम्भावनाओं का प्रारम्भिक काल का किया गया प्रतीकार ज्यादा प्रभावकारी होता है । अतः यौवन के द्वार पर पहला कदम रखते समय ही यौवन जनित दोषों से बचने के लिए यह कठोर अनुशासन-मय जीवन प्रकल्पित है ।

15. विवाह संस्कार

विवाह शब्द का अर्थ "विशेषेण वाह्यते इति विवाहः" है, जिसका अर्थ विशिष्ट प्रकार से वहन करना है । इसमें दो तत्त्व हैं, विशेष क्या है ? और किसे एवं किस प्रकार से वहन करना है । इन दोनों प्रश्नों के लिए पाश्चात्त्य संस्कृति वाले बिल्कुल भौतिक होकर के भौतिक

दृष्टि से विचार करते हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति इन्हें बहुत गम्भीरता पूर्वक लेती है तथा इनकी व्याख्या भौतिक जगत् एवं पारलौकिक जगत् के परिप्रेक्ष्य में करती है। अतः वैवाहिक संस्कार के तत्त्वों को देखने के लिए हमें दोनों दृष्टियों से विचार करना होगा। भौतिक दृष्टि वह है, जिसका प्रारम्भ, मध्य एवं अवसान इसी धरती पर हो जाया करता है। जैसे पुरुष स्त्री का एक सामाजिक खचित रेखा के अन्दर बंधना, सांसारिक राग में रंगना, संतानोत्पादन, गैहिक वातावरण की सृष्टि, समाज का निर्माण, सृष्टि संचालन में अपना योगदान तथा जीवन की दैनन्दिनी में परिवर्त्तन। इन अवयवों के परिप्रेक्ष्य में हमें विशेष और वहन का अर्थ निर्णीत करना है। सामान्यतः तो विवाह संस्कार की उक्त परिणतियों को एक अलग तरीके से सम्पादित किया जाना विशेष वहन माना जा सकता है, क्योंकि उपर्युक्त वातावरणों के निर्माण में केवल विवाह संस्कार ही पर्याप्त नहीं होता, उसके साथ-साथ अन्य भी प्रमुख एवं गौण कारण हुआ करते हैं। फिर भी चूँकि वैवाहिक संस्कार के माध्यम से इनके निर्माण में जो विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती हैं, के कारण ही इस संस्कार का नाम विवाह पड़ा है।

भारतीय धारा में ग्रथित धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में आठ प्रकार[1] के विवाह बताये गये हैं, जिनमें प्राजापत्य विवाह का अधिक एवं व्यापक प्रचलन है। इस वैवाहिक कोटि में पुरुष पक्ष के लोग एवं स्त्री पक्ष के लोग आपस में बैठकर मीमांसा करते हैं, बंधे जाने वाले बंधन की शिथिलता एवं दृढ़ता के सम्बन्ध में सूक्ष्म एवं स्थूल रूप से विचार करते हैं तथा दूरगामी दृष्टि के द्वारा एक निश्चित सिद्धान्त का निर्माण कर पुरुष एवं स्त्री का विवाह सम्पादित करवाते हैं। इस

---

1. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।

संस्कार की अतिरिक्त कोटियाँ अनेक दुःशंकाओं एवं दुःसम्भावनाओं को जन्म देती हैं, किन्तु प्राजापत्य विवाह के माध्यम से उनको दूर किया जाता है, जिसके तहत एक अपरिचित जोड़ा पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व को पतित्व एवं पत्नीत्व से प्रतिमण्डित करता है, और एक अलग दुनिया का सृजन करता है।

संसार को भौतिकवादी लोग राग के स्रोत के रूप में मानते हैं, राग से यहाँ अभिप्रेत अर्थ स्नेह है। मानव जीवन में स्नेह की अनेक स्निग्ध विधाएँ हैं, जिनमें पति-पत्नी का स्नेह एक अलग तरीके का मनमोहक, आकर्षक एवं चिरस्थायी होता है। इस राग में अनेक चौंका देने वाली बातें हैं। सर्वप्रथम कार्य-कारणवाद के वैज्ञानिक नियमानुसार कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता, किन्तु राग रूपी कार्य में कोई कारण नहीं हुआ करता है। बिल्कुल अज्ञात कुलशील के व्यक्ति के साथ दूसरे अज्ञात कुलशील वाले व्यक्ति का बहुत ही अपूर्व संयोग होता है, जिससे अद्‌भुत राग की उद्‌भावना हो जाती है। वात्सल्य, भ्रातृत्व आदि चिरस्थायी नहीं होते, उनकी बुनियाद बालू की ढेर पर बनी होती है, जो वैमनस्य के साधारण हवा के झोकों से ढह जाती है, जब कि ये सारे स्नेह सकारण हुआ करते हैं। इनके पीछे इनकी पृष्ठभूमि होती है, फिर भी चिरस्थायित्व नहीं रह पाता, समरसता नहीं रह जाती परन्तु वैवाहिक बंधन से बंधने के बाद स्नेह चिरस्थायी होता है, जिसे सहृदय लोग पूर्व के जन्म-जन्मान्तरों से आगे के जन्म-जमान्तरों तक जोड़ने का प्रयास करते हैं, तथा इसी मान्यतानुरूप अपना व्यवहार करते हैं। यह स्नेह अनेक विलक्षण नये आयाम देने वाला होता है। प्रथम स्थिति में स्नेह के अमृत सागर में उभयपक्षों के द्वारा गोते लगाना होता है। फिर सागर की निस्सीम गहराई से संतान रूप मणि का आविष्कार होता है, जिससे वात्सल्य, मातृत्व एवं पितृत्व की शाखाएँ फूटती हैं। नित्य—नूतन मन मोहक

एवं संवेदनशील स्वाभाविक परिवर्तन होते रहते हैं। फिर भी, इन सबके बावजूद वैवाहिक संस्कार के द्वारा उत्पन्न राग का बीज वही होता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। एक में अनेक एवं अनेक में एक का अपूर्व सम्बन्ध देखने को मिलता है। इस तरह से पति-पत्नी का सांसारिक राग में रंगना विवाह संस्कार के द्वारा अवश्यम्भावी होता है।

सृष्टि की संरचना के लिए प्रकृति और पुरुष का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। दार्शनिकों ने तो प्रकृति एवं पुरुष की दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की है। जिससे अनेकों वाद, प्रतिवाद ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं। परन्तु भौतिक दृष्टि से प्रकृति स्वरूपा स्त्री होती है एवं पुरुष स्वरूपा तथाकथित पुरुष होता है। इन दोनों के सहयोग से मानव जाति का विकास हो पाता है। इस प्रकार संतानोत्पादन प्रक्रिया जो कि सृष्टि का बीज है, की भूमिका विवाह संस्कार से बनती है तथा निवर्तमान के धरातल से भविष्य का निर्माण होता है। और जो भी संस्कार शास्त्रों के द्वारा निरूपित हैं। वे सारे के सारे एक आधेयस्वरूप हैं, जिनका आधार विवाह संस्कार होता है। इस तरह संतानोत्पादन इस संसार का बहुत ही अनिवार्य अंग है, जिसका सम्पादन प्रोक्त संस्कार द्वारा सम्भव हो पाता है।

विवाह संस्कार के द्वारा गैहिक वातावरण में अपूर्व परिवर्तन होता है। इससे पूर्व घर में माता-पिता, भाई का ही संगम रहता है, किन्तु इस संस्कार के द्वारा पति-पत्नी के रूप में गैहिक वातावरण के निर्मापक की सृष्टि होती है। स्वभावत: वहाँ के वातावरण में बदलाव आता है। ऐसा संयोग भी क्या विचित्र है ? इसके सामने अन्य सारे सम्बन्ध धूमिल हो जाते हैं तथा दाम्पत्य सम्बन्ध की सर्जना होती है। जिस क्रम में केवल खुशियाँ ही होतीं, शुभ संवेदानाएँ ही होतीं, कहीं भी उदासीनता एवं दु:ख का स्थान नहीं होता। घर का वातावरण

मधुमय हो जाता है। वहाँ का अंधेरा उजाले में बदल जाता है, और अब तक की गुमसुम वस्तुएँ हठात् बोलने लग जाती हैं। इस प्रकार एक विलक्षण वातावरण की सृष्टि, वैवाहिक संस्कार का मुख्य बिन्दु है।

अवयव से अवयवी का निर्माण होता है, अनेकों फूलों से माला बनती है, उसी प्रकार अनेकों परिवार के संयोग से समाज का निर्माण होता है। समाज वैसा ही होगा, जैसा कि परिवार रहेगा। परिवार के प्रत्येक पहलू समाज को अपने स्वरूप से मण्डित करते हैं। हमने देखा है कि पाणिग्रहण संस्कार के द्वारा संतान की उत्पत्ति होती है और वही आगे जाकर समाज निर्माण के यज्ञ में एक विलक्षण आहुति देता है। व्यक्ति तथा समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, जो समाज विज्ञान की नींव वाला सिद्धान्त है, का स्वरूप विवाह संस्कार के द्वारा स्थिर हो पाता है। सामाजिक निर्मिति में व्यक्ति के अलावा जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे या तो गौण कारण हैं या फिर सहकारी कारण हैं, किन्तु विवाह संस्कार एक प्रधानतम कारण है, जिसकी छवि उपर्युक्त व्याख्या के रूप में परिलक्षित होती है।

उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय सृष्टि के शाश्वत सत्य हैं। इनको कथमपि नकारा नहीं जा सकता। इन तीनों का उदाहरण हमें पारिवारिक वातारण में मिलता है। वहाँ माता और पिता ब्रह्मा के रूप में बच्चे को जनते हैं, विष्णु के स्वरूप में उनका पालन करते हैं, तथा इन सबों का काल के द्वारा परिवार में ही अन्त हो जाता है। इस तरह से किसी एक छोटे से परिवार में भी सांसारिक अखण्ड सत्य को देखा जा सकता है। ये सब तभी सम्भव है, जबकि विवाह संस्कार का सम्पादन हो, और उससे सर्जना की धारा प्रचलित हो।

मनुष्य के जीवन का रास्ता अत्यन्त ही घुमावदार है। कभी तो वह किसी दिशा में चलता है, तो पुनः अगले ही क्षण अपनी दिशा

को मोड़ लेता है। इस मानवीय यात्रा में सबसे जबर्दस्त मोड़ तब आता है, जबकि उक्त संस्कार के द्वारा मानव संस्कृत होता है। इससे मनुष्य की दैनन्दिनी बिल्कुल बदल जाती है। उसका आचरण, उसका व्यवहार, उसकी नियति सभी के सभी विचित्रिता, विशिष्टता एवं अपूर्वता के परिवर्तन को स्वीकार कर लेते हैं। सुबह से लेकर संध्या तक, तथा संध्या से सूर्योदय तक का काल परिवर्तन के रंग में रंग जाता है। सारा अनुभव अभिनव ही अभिनव लगता है। इस प्रकार से पाणिग्रहण संस्कार की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ जो भी होती हैं, वे सारी की सारी भौतिक जगत् के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। जो ही पाश्चात्त्य संस्कृति एवं पाश्चात्त्य चिन्तन का चरम लक्ष्य माना जाता है। परन्तु भारतीय असाधारण संस्कृति में इस संस्कार को भौतिक जगत् की तुच्छ रस्सी से बाँधा नहीं जाता, अपितु उसका इतना व्यापक स्वरूप सुरसासमकालिक मुखाकृति की तरह माना जाता है, जिसका चिन्तन भी कर पाना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। सब से विलक्षण बात इस संस्कृति में जो देखने को मिलती है, वह यह है कि किसी भी तत्त्व की सकारात्मक एवं नकारात्मक दृष्टिकोण से इहलौलिक एवं पारलौकिक ध्येय से व्याख्या की जाती है। कहीं भी किसी भी एक पक्षता का समावेश नहीं मिलता।

भारतीय चिन्तन की धारा में वैवाहिक संस्कार के पीछे अनेक पारलौकिक अस्तित्व स्वीकार किये जाते हैं। सर्वप्रथम तो विवाह[1], जन्म, मरण इन तीनों को बिल्कुल होनी के अधीन माना जाता है। व्यक्ति का सामर्थ्य उन सबों को प्रभावित नहीं करता। वह केवल एक माध्यम का स्थान लेकर व्यवहृत होता है। तथाकथित विधाता की जैसी इच्छा होगी, जिन दोनों के बीच मधुमय सम्बन्ध की गांठ का जुटना होगा उसी स्थल पर उन्हीं पात्रों के मध्य विवाहादि सम्पन्न

---

1. विवाहो जन्म मरणञ्च यदा यत्र भविष्यति (पञ्चतन्त्र)

होते हैं, जो भारतीय संस्कृति की श्लाघ्य बातें हैं। प्रकारान्तर से इसे ही लोग स्नेह पद से कहकर उसे जन्म-जन्मान्तरों से जुड़े होने की बात करते हैं, उसी का व्यापक स्वरूप भारतीय चिन्तन के "विवाहो जन्म मरणञ्च" में निहित है।

पाणिग्रहण-संस्कार दो आत्माओं का मंजुल मिलन है। भावनात्मक एकता प्रायः प्रत्येक व्यक्ति पति-पत्नी के मध्य तो स्वीकार करते हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति भावनाओं के धरातल से बहुत ऊपर उठकर उसे आत्माओं का एकीकरण समझती हैं और उस तरह से व्यावहारिक मान्यताओं को भी स्वीकार करती है। भारत की धरती पर पत्नी के लिए वैसे ही बहुत सारे पर्याय प्रयुक्त होते हैं, किन्तु समुपस्थित प्रसंग में अर्द्धांगिनी शब्द की अभिव्यंजना पर ध्यान देने से आत्म-मिलन का विशुद्ध भाव सामने आता है। किसी पुरुष को तब तक सम्पूर्ण[1] नहीं माना जाता, तब तक कि उसके साथ उसकी पत्नी न हो। यही कारण है कि यज्ञादि कार्यों में दम्पति का होना शास्त्रों में अनिवार्य रूप से निरूपित किया गया है। जानकीजी का जब राज्य बहिर्गमन के रूप में वनगमन होता है, और जब उनकी अनुपस्थिति में रामचन्द्र के द्वारा अश्वमेघ यज्ञ किया जाता है, तो वहाँ राजदरबार में धर्मविदों के द्वारा बहुत ही मीमांसा की जाती है कि अर्द्धांगिनी के बिना तो राजाराम अर्ध हैं, उनसे रहित होकर यज्ञ का सम्पादन[2] धर्मशास्त्र के अनुकूल नहीं हो सकता। इस परिस्थिति में वहाँ कुशा के समूह में सीता माता की छवि को प्रतिष्ठित करके और फिर यज्ञ का काम किया जाता है। यह अत्यन्त ही वैज्ञानिक तथ्यों से भरा विषय है। जीवन के प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल, दुःख-सुख

---

1. अद्‌र्धो ह वाऽएष आत्मनो यज्जाया। तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते। असर्वो हि तावद् भवति (श.प.ब्रा. 5/1/10)
2. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः (तै. ब्रा. 2-2-2-6)

में साथ निभाने वाली पत्नी बिल्कुल ही पति से एकाकार होती हैं। पति एवं पत्नी, उभय पक्ष की हर एक टीस, हर एक चुभन, एक-दूसरे को प्रभावित करती है। दोनों की जिन्दगी एव मौत एक ही नाजुक धागे पर अवलम्बित रहती है। अतः एक के बिना दूसरे का कोई कार्य करना अवैज्ञानिक ही नहीं वरन् अन्याय है। मैं यहाँ बताना चाहूँगा कि पति शब्द का स्त्रीलिंग रूप पत्नी होता है, जिसमें संस्कृत[1] व्याकरण के अनुसार नुक् का आगम एवं ङीप् प्रत्यय यज्ञ सम्बन्ध अर्थ में किया जाता है। जिसकी मान्यता है कि "वशिष्ठस्य पत्नी" वाक्य में वशिष्ठ ऋषि के द्वारा किये गये याज्ञिक अनुष्ठान के फल की अर्धभागिनी अर्द्धांगिनी होती है। अर्द्धांगिनी शब्द के पीछे यही रहस्य छिपा हुआ है। पति एवं पत्नी के द्वारा किये गये प्रत्येक शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल एक-दूसरे पर पड़ता है, जो कि व्यावहारिक, प्रातिभासिक एवं पारमार्थिक स्वरूप वेदांग की त्रिविध सत्ताओं में देखा जाता है। इसलिए अर्द्धांगिनी शब्द का व्यवहार भारतीय विलक्षण मस्तिष्क की एक विलक्षण उपज मानी जा सकती है। इसी स्वरूप में यहाँ की प्रत्येक महिला देखी जाती है जिसकी धारा विवाह संस्कार से ही फूटती है।

हमारे समाज में तीन प्रकार के ऋण[2] प्रचलित हैं—पितृ ऋण, ऋषि ऋण एवं देव ऋण। इस संस्कार के द्वारा हमें पितृ ऋण से तो मुक्ति मिलती ही है, साथ-ही-साथ ऋषि ऋण एवं देव ऋण से भी आंशिक रूप से विमुक्ति प्राप्त होती है। मानव योनि में जन्म लेने का उद्देश्य भारतीय संस्कृति में उक्त तीनों ऋणों से छुटकारा[3] पाने

1. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे 4/1/33
2. ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो.....(ब्रा.श.प. 1/5/1)
3. सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यः। कर्मणा पितृलोकः। विद्यया देवलोकः (श.प.ब्रा. 14/1/24)

के लिए स्वीकार किया जाता है, तथा यह सभी व्यक्तियों का पुनीत कर्त्तव्य होता है, जिसके कारण भी विवाह संस्कार को बहुत ही महत्त्व के उद्गम स्थल के रूप में आंका जा सकता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में प्रतिपादित हैं। हर एक व्यक्ति के जीवन का यही लक्ष्य होता है, कि वह धर्म की प्राप्ति करे, फिर धर्म के द्वारा अर्थ का उपार्जन करे, इन दोनों के सहकार से काम की पूर्ति करे और फिर मोक्ष के लिए प्रयत्न करे। इन चारों में सर्वप्रथम धर्म का स्थान है, और बाद में अर्थ, काम और मोक्ष का स्थान है। जिसका कारण यह है कि धर्म ही उन सबों के लिए बीज का काम करता है। धर्म के बिना अर्थ एवं काम की तात्कालिक पूर्ति तो हो सकती है, किन्तु वह आदरणीय तथा प्रतिक्रिया विहीन नहीं मानी जा सकती। मोक्ष तो धर्म के बिना तात्कालिक या चिरस्थायी कुछ भी नहीं मिल सकती। इस प्रकार धर्म को पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रथम सोपान एवं अनिवार्य कारण माना जाना चाहिए। धर्म शब्द आधुनिक स्थूल दृष्टि से देखने वाला शब्द न होकर अत्यन्त ही व्यापक है। इसकी व्याख्या को मात्र पूजा पाठ की परिधि में कैद कर देना मानवीय मस्तिष्क की भूल है। संक्षेप में धर्म शब्द का अर्थ "धारयति इति धर्मः" अर्थात् जो धारण[1] करे वही धर्म होता है। वैवाहिक संस्कार के द्वारा उक्त चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति सरलतया हो जाती है। इसके लिए कोई बाह्य प्रयास नहीं करना होता। क्योंकि इस संस्कार के माध्यम से इनकी प्राप्ति हेतु स्वाभाविक रूप से वातावरण का निर्माण हो जाता है।

विवाह में जो विधियाँ होती हैं, उनमें सप्तपदी का एक अपना अलग ही वैशिष्ट्य है। वैधानिक दृष्टि से यह क्रिया अनितरसाधारण

1. धारणाद्धर्मः स उच्यते।—(मनुस्मृति)

है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक सप्तपदी का व्यवहार प्रचलित है। इसमें पति, पत्नी को सात कदम चलाता है, जिनमें प्रत्येक का आशय यों है—ऐश्वर्य के लिए प्रथम पद, ऊर्ज के लिए द्वितीय पद, भूति के लिए तीसरा, सुख के लिए चौथा, पशुओं के लिए पाँचवाँ, ऋतुओं के लिए छठा और मित्रता के लिए सातवाँ पद होता है।

(म.स्मृति 9-70)

भौतिक एवं पारलौकिक दृष्टि से किये गये उपर्युक्त निरूपण विवाह संस्कार के ही परिणाम हैं। यह संस्कार बच्चे का घरौंदा नहीं कि बनायें और टूट जाये। अत: इसमें चिरस्थायित्व, सफलता एवं आकर्षण लाने के लिए संस्कार के माध्यम से किया जाना अत्यन्त ही प्रभावकारी, सुन्दर तथा विज्ञान से आप्लुत है।

16. अन्त्येष्टि संस्कार

दु:ख एवं सुख के दो किनारों से बह रही जीवन की नदी अन्त्येष्टि संस्कार के माध्यम से रुक जाती है। मनुष्य की जीवन लीला यहीं समाप्त होती है। इस संस्कार में शरीर की तीन गतियाँ देखी जाती हैं या तो वह जल कर राख बन जाता है, अथवा मिट्टी के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता या विष्ठा बन कर रह जाता है। यदि शरीर को जला दिया गया तो उसका स्वरूप राख का होता है, जो कि भारतीय संस्कृति से सम्भव है। यदि मिट्टी खोद कर इस्लाम धर्म के अनुकूल शरीर को गाड़ दिया जाये तो वह मिट्टी बन जाता है। यदि सम्बन्धियों अथवा साधनों का अभाव होता है, तो शरीर का जल या स्थल भाग में प्रक्षेपण किया जाता है फिर तो गिद्ध कौए उसके माँस खाते हैं, जिसकी विकृति विष्ठा के रूप में हो जाती है। ये तीनों परिणाम हमें देखने को मिलते हैं, जिसमें भारतीय संस्कृति शव को जलाने के लिए सम्मति देती है। वह अपने हृदय के टुकड़े को ज्यादा समय शारीरिक अवस्था में देख नहीं पाती और उसे तुरन्त

पंचतत्त्व से रचित शरीर को पंचतत्त्व को ही सौंप देती है। यह एक वास्तविकता, सत्य एवं शाश्वत तत्त्व को शीघ्र स्वीकार करते हुए शरीर की प्रथम परिणति पर ही अपनी मुहर लगाती है।

अन्त्येष्टि संस्कार के अन्तर्गत मुखाग्नि वही देता है, जो कि उसका सबसे प्यारा निकटतम सम्बन्धी होता है। जिसके साथ केवल भावनाओं का सम्बन्ध एवं शारीरिक सम्बन्ध ही नहीं अपितु आत्मीय सम्बन्ध होता है, वही व्यक्ति, अन्त्येष्टि के अनुष्ठेय कर्मों को सम्पादित करता है। ऐसा इसलिए होता है कि भारतीय संस्कृति के प्रत्येक घटकों में नित्य सत्य की प्रतिच्छाया रहती है। जिस मुख से आशीर्वाद एवं शुभकामनाओं के हजारों शब्द उसके लिए निकल पड़ते थे, उनको बदले में जो मशाल की धधकती ज्वाला प्रदान करे, ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में कभी भी स्वार्थ को महत्त्व नहीं देगा। माया, मोह, ममता की फांस में फँसकर अपने कर्त्तव्य को नहीं भुलायेगा, कर्म की राह पर चलेगा, क्योंकि वह जान गया है, कि शरीर की अन्तिम गति में संसार का शाश्वत सत्य एवं सबसे प्रिय आत्मीय व्यक्ति के द्वारा अन्त समय में क्या मिलने वाला है। इन्हीं सत्य तत्त्वों के अमृत का अन्वेषण कर भारतीय ऋषियों ने अपने पुत्र के द्वारा ही मुखाग्नि देने की प्रथा को स्वीकार किया है।

भारतीय संस्कृति भी खूब है, यह जितने हर्ष से सुख को स्वीकार करती है, उतने ही वेग से दुःख को भी स्वीकार करती है। सुख में भी दुःख[1] का स्वरूप देखती है एवं दुःख में भी सुख को ढूँढ़ लेती है। यही कारण है कि अन्त्येष्टि संस्कार, जिसे अन्य संस्कृति संसार के अशुभतम दिनों में से एक मानती है, परन्तु भारतीय संस्कृति इसे एक संस्कार के रूप में मानती ही नहीं, करती भी है। वास्तव में शारीरिक लीला समाप्त होने से व्यक्ति की लीला भला कैसे समाप्त

---

1. दुःखमिश्रितत्वात् सुखमपि दुःखमेव-तत्त्वकौमुदी

हो सकती। अन्त्येष्टि संस्कार तो गतिशील जीवन का कुछ विश्राम होना है, यथा कोई यात्री अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते-बढ़ते जब थकान महसूस करता है, तो कुछ देर के लिए वह किसी छाया की ओट में विश्राम करता है। उसी प्रकार अन्त्येष्टि किसी का अन्त नहीं है। वह तो बिल्कुल एक देश से दूसरे देश में जाने की भाँति, एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने का चौराहा है। अत: जो शाश्वत सत्य है, उसे अशुभ माना जाना किसी भी संस्कृति की अज्ञानता है। अत: भारतीय संस्कृति जो अपने आप में बहुत ही प्रौढ़ा, वैज्ञानिकी एवं सत्य की प्रतिमूर्त्ति है, वह इसे भी एक संस्कार के रूप में ही देखती है, जो किसी भी देश के व्यक्ति के लिए मात्र आदरणीय ही नहीं, वरन् पूजनीय भी है।

संस्कारों की मेरे द्वारा प्रोक्त व्याख्या में देखा जा सकता है कि कौन से संस्कार व्यक्ति, परिवार एवं समाज को किस तरह प्रभावित करते हैं। उनको सच्ची राह बताते ही नहीं, वरन् उस राह से ले जाने के लिए तैयार भी करते हैं। भारतीय ऋषियों, महर्षियों, मनीषियों के अद्‌भुत मस्तिष्क की उपजों में से इन संस्कारों की उपज नितान्त अभ्यर्हणीय है। इनके द्वारा समाज का प्रत्येक पक्ष सुसज्जित एवं सुगन्धित होता है, जो कि भारतीय के लिए एक बहुत ही असाधारण गौरव की बात है। परन्तु आधुनिक भौतिकतावाद एवं पाश्चात्त्य संस्कृति के दानवों के द्वारा हमारी संस्कृति कैद कर ली गयी है। हम लोग दानवों की गुलामी में अपना जीवन बिता रहे हैं, और यह गुलामियत की भावना इस तरह हृदय में बैठ गयी है, कि हम इसी तरह जीने में अपने को धन्य समझने लगे हैं। यह हमारे लिए अत्यन्त ही दुर्भाग्य का विषय है। अनेकों विनाश-लीलाओं का ताण्डव जो आज हो रहा है तथा होने वाला है, का उत्तरादायित्व मैं भौतिकतावाद तथा पाश्चात्य संस्कृति को देना चाहूँगा। अभी भी बहुत देर नहीं

हुई है। कुछ क्षणों के लिए आयी भटकन को अभी भी सुधारा जा सकता है। भारतीय संस्कृति के मूल में निहित भावनाओं के अनुरूप वातावरण को ढाला जा सकता है। जिनके लिए भले ही विद्वानों की दृष्टि में "एकाधिक उपाय हैं, किन्तु मेरी दृढ़ मान्यता है कि उपर्युक्त संस्कारों के द्वारा उपाय किया जाना सभी उपायों से अधिक अहंमन्यता रखता है। आवश्यकता है कि संस्कारों के निगूढ़तम रहस्यों एवं तत्त्वों का उद्घाटन किया जाये। उनके आलोक में व्यक्ति को चलने का पैगाम दिया जाये तथा अपने प्राचीन विज्ञानमय शाश्वत सत्य कुटीर में वापस बुलाया जाये। तभी जाकर विशुद्ध भारतीयता कायम हो सकती है, इसका गिरता स्तर उठ सकता है, इनमें लगी कालिखें धुल सकती हैं, और अपनी आभा से स्वयं के इतिहास के अनुरूप जगत् को आकृष्ट कर सकती है। इस कार्य हेतु हम छात्रों, गवेषकों, विद्वानों, शिक्षा शास्त्रियों, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों का आह्वान करना चाहेंगे कि ऐन मौके पर भारतीयता के स्तर को एक स्तर प्रदान करने हेतु वे जागरूक हों। इस काम के लिए हमें अन्य संस्कृतियों, अन्य लोगों से उधार लेने की अपेक्षा नहीं है, हमारे पास असीम विरासत, प्रकृति के द्वारा संस्थापित थातियाँ एवं इस प्रकार का भव्य मानस प्राप्त है, कि किञ्चित् चेतना को उद्भूत कर भारतीयता सम्पूर्ण शक्ति से दृढ़ होगी, एवं हम लोग गौरवास्पद होंगे।

इतिशम्

(परिशिष्ट)

"संस्कारों में प्रयुक्त होनेवाले कुछ विशिष्ट मंत्र"

(1) गर्भाधान संस्कार

"यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् वेदाहं
तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः
शतं श्रृणुयाम शरदः शतमिति ॥" (पा.गृ.सू. 1-11-9)

अर्थ—हे सुसीमे शोभन सीमन्तवाली कन्ये जो तुम्हारा हृदय मन दिवि आकाश में विद्यमान चन्द्र में अधिष्ठित है उसको मैं जानता हूँ, वह तुम्हारा मन मुझको समझे, एक मनवाले हम दोनों होकर सौ वर्ष पुत्र पौत्र आदियों को देखते-सुनते जीते रहें ॥

"प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि अस्थिभिरस्थीनि
मांसैर्मांसानि त्वचात्वचम् ॥" (पा.गृ.सू. 1-12-5)

अर्थ—प्राणों से तुम्हारे प्राणों को, अस्थियों से अस्थियों को, मांसों से मांसों को और तुम्हारे चमड़े को अपने चमड़े से सन्नद्ध करता हूँ ।

"गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥"

अर्थ—हे अग्ने ! औषधियों में, वनस्पतियों में, प्राणियों में और जल में तुम गर्भ रूप हो अर्थात् तुम व्यापक रूप से गर्भात्मक होते हुए गर्भसंरक्षक भी हो । (मा.वा.सं. 12/36)

(2) पुंसवन संस्कार

"हिरण्यगर्भस्समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथ्वी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥"

अर्थ—पहले हिरण्यगर्भ सम्भूत हुए। एकमात्र वे सभी प्राणियों के पालक थे। उन्होंने पृथ्वी एवं द्युलोक का धारण किया। हम उनकी आराधना करते हैं। (मा.वा.सं. 13/4)

"'अद्भ्यस्संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणस्समवर्त्तताग्रे।

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥"

अर्थ—जल तथा पृथ्वी के रस से पोषित यह सृष्टि है। देवताओं में आजान देव एवं कर्म देव दो प्रकार के होते हैं। आजान देव सूर्यचन्द्र आदि है। कर्मदेव मर्त्य हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में कर्म कारण है। इन कर्म देवों का रूप देनेवाला त्वष्टा है। आजान देव की स्तुति पूर्व कल्प में सर्वप्रथम की गयी है॥ (मा.वा.सं. 31/17)

(3) सीमन्तोन्नयन संस्कार

"अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भव"॥

अर्थ—हे सीमन्तिनी ! यह उदुम्बर अश्वत्थ आदि बलप्रद हैं अर्थात् अन्न रस प्रद हैं। इस ऊर्जावान् वृक्ष की ऊर्जा के समान तुम फलवाली बनो। बिना क्लेश से सुख प्रसव होकर तुम फलिनी बनो।"

(पा.गृ.सू. 1/15/6)

"सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः।

अविमुक्त-चक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमसौ॥"(पा.गृ.सू. 1/16/7)

अर्थ—हम लोगों का सोम ही राजा है। राजा की ये प्रजायें सौम्य होकर (पास में विद्यमान नदी के नाम लेकर) हे नदि ! तुम्हारे तट पर तुमको आश्रित होकर रहते हैं। जैसे आप मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हुए रहते हो, उसी प्रकार प्रजा भी अपनी शास्त्रमर्यादा को बिना छोड़े रहने वाली है। अतः इनका पालन करो।

(4) जातकर्म संस्कार

"अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्मान् तेनत्वायुषायुष्मन्तं करोमि।

सोम आयुष्मान् स ओषधीभिरायुष्मान् तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि॥"

अर्थ—वनस्पतियों से अग्निदेव वृद्धि को प्राप्त करते हैं, उस देव के द्वारा मैं तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ, एवं ओषधियों से चन्द्र परिपुष्ट होता है, उस देव के द्वारा मैं तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ।

"अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥"

(पा.गृ.सू. 1/16/18)

अर्थ—हे कुमार ! तुम अश्मा मणि के समान दृढ़ रहो, परशुआयुध के समान शत्रुओं का सामना करने की शक्ति रखो, मिलावट से रहित सुवर्ण के समान तेजस्वी रहो, क्योंकि तुम पुत्ररूप से आत्मा हो। अतः तुम सौ वर्ष जीवित रहो।

"इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत् ॥"

अर्थ—हे वीरे ! तुम वीरवती-पुत्रवती हो और इडा-यज्ञपात्र या तद्गत द्रव्य हो, मित्रावरुणों के अंश से युक्त हो, जिस कारण से तुम वीर बच्चे को पैदा की हो, उससे तुम जीवत्पुत्रवती हो, क्योंकि तुम हमें जीवत्पुत्रवान् बनायी हो। (पा.गृ.सू. 1/16/19)

(5) नामकरण संस्कार

"अंगादंगात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥"

अर्थ—हे पुत्र ! तुम हमारे अंग से उत्पन्न हो, हृदय से भी अधिक रूप में उत्पन्न हो। अतः तुम निश्चित ही मेरे पुत्र हो। सौ वर्ष तक जीवित रहो।

"इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मै।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वात्मानं वाचः सुदिनत्वमन्हाम् ॥"

अर्थ—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! इस बच्चे को सर्वश्रेष्ठ सुमंगल धन का वितरण करो। एवं ज्ञान को शारीरिक नीरोगता प्रजापति के

सर्वतोमुख सौभाग्य का वितरण करो। धन की पुष्टि, वागिन्द्रिय का माधुर्य और साफल्य का वितरण करो।

(6) अन्नप्राशन संस्कार

"दैवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहा ॥"

अर्थ—देवता देवी वाणी की सृष्टि किये हैं, जिस वाणी का नाना रूप के प्राणी व्यवहार करते हैं। वह वाणी हमें अन्न और बल प्रदान करें। धेनु के समान वाणी अन्न और बल को दुहती हुई स्तुति करने वाले मेरे पास आवे। हे वाणि ! आज हमें उस अन्न को दो, जिसे हम दूसरों को दे सकें॥ (पा.गृ.सू. 1/19/2)

"वाजो नो अद्य प्रसुवातिदानं वाजो देवां ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जनान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयं स्वाहा ॥"

अर्थ—देवता ऋतुओं के अनुसार अन्न को पैदा करते हैं। हम लोगों को अन्न ही बलवान् बनाता है, जिससे हम वाजपति बनकर सभी दिशाओं में विजय प्राप्त कर सकें। (मा.वा.सं. 18/33)

(7) चूडाकर्म संस्कार

"येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्मणो वपते दमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथा सत् ॥"

अर्थ—हे ब्राह्मण ! जिस छुरी से सविता-सूर्यरूपी पिता सर्वज्ञ होकर सोम और वरुण राजा के बाल बनाये, उस छुरी से इस कुमार के बालों का आप लोग वपन-मुण्डन करें, जिससे यह बालक दीर्घायु हो और हृष्ट-पुष्ट हो। (पा.गृ.सू. 2/1/11)

"येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्।
तेन ते वपामि ब्रह्मणे जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥"

अर्थ—हे कुमार ! जिस मन्त्र से सर्वत्र बहुत समय तक संचरण-शील प्रचुर वायु द्युलोक के चारों ओर एवं सूर्य के चारों ओर संचरणशील है, उस मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित छुरी से जीवन के आधारभूत धर्मानुष्ठान एवं अच्छे यश और कल्याण के लिए तुम्हारे बालों का वपन करता हूँ। (पा.गृ.सू. 2/1/16)

(8) कर्णवेध संस्कार

"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांशस्तनूभिर्व्यसेमहि देवहितं यदायुः ॥"

अर्थ—कानों से मंगल वचन सुनें, आँखों से मंगल दृश्य देखें, हम अपने स्वस्थ एवं पुष्ट गात्र से सम्पन्न रहकर आपकी स्तुति करते हुए चिरायुष्य प्राप्त करें। (मा.बा.सं. 25/25)

(9) उपनयन संस्कार

"इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनंती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् ॥"

अर्थ—हमारे दुष्ट वचन और दुष्टाचार को दूर करती हुई प्राण-अपान आदि से बलाधायिका यह मेखला भगिनी की तरह प्रकाशमाना सौभाग्यवती होकर मेरे पास आयी है। (पा.गृ.सू. 2/2/8)

"मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरं समिद्धम् ।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम् ॥"

अर्थ—मैं उस अजिन-कृष्ण मृगधर्म को धारण करता हूँ, जो सूर्य की चक्षुरूप प्रकाश का धारण करने वाला, बलिष्ठ तेजोरूपी, यशस्वी, बृद्धिमान् एवं दीप्तिमान्, धूर्तों के अयोग्य, वस्त्र रूप, प्रशस्त अथवा जरा का सूचक अन्नप्रद है।

"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुंच शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥"

अर्थ—इस ब्रह्म सूत्र को जो कर्मानुष्ठान के लिये बनाया गया है और अत्यन्त पवित्र है एवं यज्ञ का साधन होने से पहले प्रजापति

के साथ उत्पन्न हुआ, ऐसे आयु को देने वाले स्वच्छ यज्ञोपवीत को मैंने धारण किया, जिससे मुझे तेज और बल प्राप्त हो।

"ब्रह्मचार्यसि अपोऽशान, कर्मकुरु, मा दिवा सुषुप्थाः।
वाचं यच्छ, समिधमाधेहि, अपोऽशान॥"

अर्थ—तुम ब्रह्मचारी हो, जल खाओ, काम करो, दिन में न सोओ, वाक् संयम रखो, समिधों का आधान करो, जल पीओ।

(10) समावर्त्तन संस्कार

"उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्था-
द्दशसनिरसि दशसनिंमां कुर्वाविदन्मागमय।
उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्‌भरस्थाद्दिवा यावभिरस्था-
च्छतसनिरसि शतसनिं मां कुर्वाविदन्मागमय।
उद्यन् भ्राजजिष्णुरिन्द्रो मरुद्‌भरस्थात्सायं यावभिरस्था-
त्सह स्रसनिरसि सहस्रसनिं मां कुर्वाविदन्मागमय॥"

अर्थ—हे भगवान् सूर्य ! तुम प्रातः उगते हुए तुम्हारे साथ चलने वाले ऋषि-महर्षि गणों से सेवित हो, इन्द्र मरुत् आदि देवताओं से भी सेवित होकर रहते हो, और दश संख्या से दान देने वाले हो, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले मुझे भी उतना उससे अधिक दान देने का योग्य बनाओ, एवं मध्याह्न में सौ संख्या से दान देने वाले बन जाते हो, मुझे भी उतना उससे अधिक दाता बनाओ, एवं सायं तुम हजारों संख्या से दान देते हो, मुझे भी उस प्रकार बनाओ। मैं भी हजारों संख्या से दान दे सकूँ।

(11) विवाह संस्कार

"जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा।
शतञ्च जीव शरदः सुवर्च्चा रयिंच पुत्राननु संव्ययस्वायुष्म
तीदं परिधत्स्व वासः॥"

अर्थ—तुम इस वस्त्र को पहनो। आकर्षक स्त्री पुरुषों के मिथ्यापवाद से बचानेवाली तुम बनो एवं इस वस्त्र को पहनकर मेरे साथ वार्द्धक्य तक सहयोग करो और शतायु को प्राप्त करो एवं धनराशि पुत्र आदि को एकत्रित करो।

"अधोरचक्षुरपतिध्न्येधि शिवा पशुभ्य: सुमना सुवर्च्चा:।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥"
"सोम: प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर:।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यज:॥
सोमोऽददद् गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये।
रयिंच पुत्रांश्वादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥"

अर्थ—हे कन्ये ! तुम सौम्य दृष्टि रहो, पति के चाहे हुए अर्थ को विगाड़ना नहीं तथा आश्रित लोगों के लिए प्रसन्नचित्त और हितैषी बनी रहो, प्रभावशाली बनकर रहो, जीवत्सुपुत्रका जननी बनो, दैव आराधना करने की इच्छा करती रहो, सुखपूर्वक रहकर हमें सुख पहुँचाती रहो, घर के सदस्य एवं जानवरों को सुखी बनाओ। चन्द्र, गन्धर्व और अग्नि से रक्षित होकर मेरे पास आयी हो। अग्निदेव के द्वारा प्राप्त धन-धान्य तुम्हारे पास है, मेरे धर्म कार्य में साथ रहो। अर्थात् धर्म-अर्थ-कामों का तुम भोग करते हुए परम पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए मेरे साथ कार्य करो।

"मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥"

अर्थ—हे कन्ये ! मेरे व्रतानुष्ठान में तेरे हृदय को धारण करता हूँ, मेरे चित्त के अनुसार तुम्हारा चित्त रहे, मेरे वचनों को सावधान मन से ग्रहण करो। परंमात्मा मेरे लिए तुम्हें नियुक्त करें।

(12) विद्यारम्भ संस्कार

"सरस्वति ! नमस्तुभ्यं वरदे कामरूपिणि।
विद्यारम्भं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा।"

अर्थ—कामरूपिणि वरदायिनि सरस्वति ! तुम्हें नमस्कार है। मै विद्यारम्भ करूँगा इसमें मुझे सर्वदा सिद्धि मिले।

"बृहस्पते सवितर्बोधयैनं सं शितं चित्सं तरां सं शिशाधि।
बर्धयैनं महते सौभगाय विश्वऽएनमनुमदन्तु देवाः॥

(मा.बा.सं. 272/8)

अर्थ—हे बृहस्पति एवं सविता देव, सबके उत्पादक एवं प्रकाशक देवता इस बालक को तीक्ष्ण बुद्धि वाला चेतना सम्पन्न बनायें और इसे ठीक से उपदेश दें एवं इसे महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिये आगे बढ़ायें ताकि सब दिव्य गुणों वाले देवता एवं विद्वान् सबकी बातों का अनुमोदन करें।

(13) वेदारम्भ संस्कार

"हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥"(मा.वा.सं. 40/17)

अर्थ—ज्योतिर्मय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है फिर भी सूर्यमण्डल में स्थित जो पुरुष है, वही पुरुष मैं हूँ।

"आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वा-
नाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥"

(मा.वा.सं. 22-22)

अर्थ—हमारे राष्ट्र में ब्राह्म तेज से सम्पन्न ब्राह्मण उत्पन्न हो। बाणविद्या में दक्ष शत्रुओं को पराजित करने में पटु वीर महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हो। गाय दूध देने वाली हो। बैल ढोने वाले हों। घोड़ा वेग से दौड़ने वाला हो। स्त्रियाँ नगर को धारण करने वाली हों। रथ में बैठने वाला विजयी और पराक्रमी हो। युवक सभा के लायक बनें।

समयानुकूल वर्षा होती रहे। औषधियाँ फलवती हों तथा योग और क्षेम चलता रहे।

(14) निष्क्रमण संस्कार

"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शदः शतमदीनाः स्याम शरदः
शतं भूयश्च शरदः शतात्॥" (मा.वा.सं. 36/24)

अर्थ—वह चक्षु स्थानीय आदित्य सूर्य पूर्व दिशा में उदित हुआ है। उसी ने देवताओं का हित किया है। वह विशुद्ध प्रकाशवाला है। उसी के प्रसाद से हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवित रहें और सौ वर्ष तक सुनने में समर्थ हों, सौ वर्ष तक बोल सकें और सौ वर्ष से भी अधिक सुखी रहें।

(15) अन्त्येष्टि संस्कार

"वायुरनिलममृतमभेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतं स्मर॥(मा.वा.सं. 40/15)

अर्थ—हे मानव ! उस ईश्वर को स्मरण कर अपने पापों को स्मरण कर और अपने द्वारा किये गये कर्मों का स्मरण कर। मेरा प्राण वायु में, शरीर अग्नि में लीन हो। अमृत तत्त्व अमरत्व में विलीन हो।

"अस्मात्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः।
असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा।" (मा.वा.सं. 35/22)

अर्थ—हे अग्ने ! तुम इस गतात्मा के आधान काल में उत्पन्न हो। यह दिवंगत जीव स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिए फिर जीवित हो। इस कार्य के निमित्त यह आहुति तुम्हारे मुख में ठीक से दी जाती है।

॥ **इतिशम्** ॥